

भ्रष्टाचार के प्रति भद्रलोक का भ्रामक नजरिया

वर्तमान समाज में प्रचलित और स्थापित धारणा यही है कि अपनी पद-प्रतिष्ठा और जिम्मेदारी का दुरुपयोग करके अपने और अपने खास लोगों के स्वार्थों की पूर्ति करना तथा पूँजीवादी नैतिकता के मानदंडों और कानूनों का उल्लंघन करके नाजायज धन-सम्पत्ति जमा करना भ्रष्टाचार है। एक दूसरे प्रकार का भ्रष्टाचार भी है जिस पर यह पूरी समाज व्यवस्था टिकी हुई है, लेकिन वह हराम या गैर-कानूनी नहीं है— पूँजीवादी शोषण और लूट-खसोट। उदाहरण के लिए श्रम का निर्मम शोषण, प्राकृतिक संसाधनों का बेहिसाब दोहन, निजीकरण के नाम पर सार्वजनिक सम्पत्ति का मालिकाना निजी पूँजीपतियों को सौंपना, पूँजीपतियों को टैक्स में छूट और हर तरीके से उनकी तिजोरी भरना, जनता पर टैक्स लादकर मंत्रियों, सांसदों, विधायकों, नौकरशाहों और बुद्धिजीवियों के लिए मोटी तनखाहों, राजसी टाट-बाट और विशेषाधिकारों का इंतजाम करना। पूँजीवादी नैतिकता के अनुसार ये भ्रष्टाचार की श्रेणी में नहीं आते, लेकिन बहुसंख्य मेहनतकश वर्गों और मानवता की दृष्टि से यह सब निकृष्ट और भ्रष्ट आचरण है। भ्रष्टाचार के खिलाफ धर्मयुद्ध छेड़ने वाले योद्धा इस दूसरे तरह के भ्रष्टाचार की कहीं कोई चर्चा नहीं करते, उनकी निगाह में ये सभी काली करतूतें नैतिक और जायज हैं, केवल स्थापित कानूनों का उल्लंघन करके काला धन बटोरना ही भ्रष्टाचार है जबकि भ्रष्टाचार का ये कानूनी प्रकार इस समूचे लूटतंत्र के आगे कुछ भी नहीं। लेकिन इसकी चर्चा बाद में। पहले प्रचलित अर्थों में भ्रष्टाचार को ही लें, जो लोगों को प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देता है, जिसे लेकर लोगों के मन में आक्रोश है और जिसकी रोक-थाम के लिए आज विश्व बैंक, सरकार और भद्रलोक-एनजीओ अपने-अपने तरीके से जोर लगा रहे हैं।

भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन के भद्रलोक-एनजीओ नेता भ्रष्टाचार के प्रति सतही और भ्रामक नजरिया अपनाते हैं। कैसे?

पहला— वे रोग के लक्षण को ही रोग बताते हैं, महँगाई, बेरोजगारी, किसानों की तबाही और लाखों की संख्या में आत्महत्याएँ, मजदूरों का निर्मम शोषण, अमीरी-गरीबी के बीच बढ़ती खाई, बहुसंख्य जनता की कंगाली, बदहाली और प्रवंचना, सांस्कृतिक पतनशीलता और अन्य तमाम लक्षणों की तरह भ्रष्टाचार भी वर्तमान रुग्ण पूँजीवादी व्यवस्था के लाइलाज रोग का एक लक्षण मात्र है। लेकिन भ्रष्टाचार विरोधी धर्मयोद्धा यह भ्रम फैला रहे हैं कि भ्रष्टाचार समाज की सभी बुराइयों की जड़ है जिसे खत्म कर दिया जाय तो सारी समस्याओं का अंत हो जायेगा।

अपने रोजमर्रे की जिंदगी में आये दिन लोगों का भ्रष्टाचार से सामना होता रहता है। हर छोटे-बड़े काम के लिए उन्हें रिश्वत देनी पड़ती है। इसी का फायदा उठाकर भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम के कर्ता-धर्ताओं ने इसे देश की सारी समस्याओं की जड़ बनाकर पेश किया। कॉरपोरेट नियंत्रित मीडिया— टीवी, रेडियो और अखबारों ने अपने धुआँधार प्रचार के द्वारा आम लोगों के मन में इसे कॉमन सेंस की तरह स्थापित कर दिया है। हर कॉमन सेंस की तरह यह भी सरासर गलत है। इसके लिए एक सूत्र आजमाया जाये। हर व्यक्ति अपने एक साल का लेखा-जोखा ले कि उसने कितनी जगह कितनी रिश्वत दी। उससे उसे खुद कितना फायदा हुआ? नहीं देने से कितना नुकसान होता? पता चलेगा कि 20 रुपये रोज पर गुजर-बसर करने वाले 80 फीसदी लोगों की जिन्दगी में भ्रष्टाचार की कोई गुंजाइश ही नहीं है। यही कारण है कि इन 80 फीसदी लोगों को भद्रलोक इस लायक

नहीं समझता कि वे उसके भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम में झण्डा, टोपी और टैटू के साथ शामिल हों। आम मध्यम वर्ग के लिए भी यह ढेर सारी समस्याओं में से एक है।

भ्रष्टाचार की तरह ही पूँजीवादी रोग का एक लक्षण महँगाई है जिसके चलते हर आदमी को अतिरिक्त बोझ उठाना पड़ता है, चाहे 20 रुपये पर गुजारा करने वाले हों या हजारों रुपये मासिक कमाने वाले। तुलना करें कि एक साल में किसने हमारा कितना अधिक प्रत्यक्ष दोहन किया? बेरोजगार यह सोचें कि यदि सम्मानजनक रोजगार मिल जाये तो पिछले एक साल में भ्रष्टाचारियों को दी गयी रिश्वत की तुलना में उसका कितना फायदा होता? खेती तबाह न हो तो कोई किसान आत्माहत्या करने के बजाय क्या ब्याज चुकाना और घूस देना पसंद नहीं करेगा? इन बातों का मतलब भ्रष्टाचार का समर्थन करना नहीं बल्कि उनके 'कॉमन सेंस' का जवाब उन्हीं की भाषा में देना है। क्योंकि इसी पद्धति से भ्रष्टाचार विरोधी भ्रष्टाचार को सबसे बड़ी समस्या बना कर उसे लोगों के मस्तिष्क में रोप रहे हैं। भ्रष्टाचार को लक्षण की जगह रोग बताने वाले ये ध्वजधारी वास्तव में लोगों का ध्यान जनता की मूल समस्याओं— महँगाई, बेरोजगारी, किसानों की तबाही, आम जनता की बढ़ती बदहाली और कानून के संरक्षण में हो रहे देशी—विदेशी पूँजीपतियों की बेलगाम लूट से हटा रहे हैं, जिनके मूल में नवउदारवादी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था है। इसके चलते लोगों को लगता है कि जन लोकपाल बनने और लोकपाल का पद सृजन होने से उनकी सारी समस्याएँ हल हो जाएँगी। इस तरह जनता का गुस्सा कुछ समय के लिए शान्त हो जायेगा। आंदोलनकारियों का यही मकसद है।

दूसरा— भ्रष्टाचार की जड़ तक पहुँचने, उसका कारण तलाशने या उसके असली स्रोतों को निशाना बनाने और उसे निर्मूल करने के बजाय भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलनकारी केवल ऊपरी तौर पर सुधार करने और कानून के जरिये इस पर रोक लगाने की बात करते हैं। इस कानून के अधीन देशी—विदेशी पूँजीपतियों को लाने से इन्कार करते हैं और केवल उनके निरंतर जारी भ्रष्टाचार में सहयोग करने वाले नेताओं और नौकरशाहों के खिलाफ कानून बनाने की बात करते हैं। 2जी

स्पैक्ट्रम का घोटालेबाज ए. राजा तो पहले से मौजूद कानून के तहत ही जेल में है। लेकिन जिन मोबाइल कम्पनियों को उसके जरिये 1,75,000 करोड़ का मुनाफा हुआ उन देशी—विदेशी पूँजीपतियों को इस नये कानून के अधीन लाने का कहीं कोई जिक्र नहीं है। इसी तरह वे व्यस्थापोषक मीडिया और एनजीओ को भी इस कानून की पकड़ से बाहर रखने के हिमायती हैं।

अन्ना टीम यह मानकर चलती है कि भ्रष्टाचार केवल सरकारी संस्थानों में ही है। इसीलिए वे निचले स्तर तक के सरकारी कर्मचारियों को लोकपाल के दायरे में लाने की माँग करते हैं। सरकारी स्कूल, अस्पताल और सरकारी सेवाओं के भ्रष्टाचार के प्रति उनकी चिंता जायज है। लेकिन आज निजीकरण के चलते शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन, सड़क और पानी—बिजली का जिम्मा नाम मात्र ही सरकार के अधीन है। ये सारे कारोबार अब निजी पूँजीपति और एनजीओ सम्भाल रहे हैं जिन पर कोई सरकारी अंकुश नहीं है, सरकारी लोकपाल और जनलोकपाल दोनों में ही उन्हें शामिल नहीं किया गया। इसमें अचरज की कोई बात नहीं, क्योंकि दोनों ही पक्ष नवउदारवादी नीतियों के प्रबल समर्थक हैं और दोनों को पूँजीपतियों के भ्रष्टाचार से कोई शिकायत नहीं है।

1991 में नव—उदारवादी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद जितने भारी पैमाने पर भ्रष्टाचार की घटनाएँ सामने आई हैं उसने मध्यम वर्गीय लोगों में तीव्र आक्रोश उत्पन्न किया है। अन्ना के आह्वान पर ऐसे लोग सड़कों पर उतरे। अन्ना टीम ने उस जनाक्रोश को सही दिशा देने और भ्रष्टाचार की जड़ों पर प्रहार करने के बजाय उसे सतही और बेमानी सुधारों के ठन्डे पानी में डुबो दिया क्योंकि इस भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम का अंतिम लक्ष्य केवल एक अदद कानून बनाना था। निजीकरण—उदारीकरण के नाम पर देश की सार्वजनिक सम्पदा और प्राकृतिक संसाधनों को कौड़ियों के मोल पूँजीपतियों के हवॉले करने वाली नीतियों को पलटे बगैर किसी भी कानून से इस भ्रष्टाचार पर कोई आंच नहीं आने वाली है। इस विषय पर अन्ना टीम मौन है। भ्रष्टाचार का स्रोत देशी—विदेशी पूँजीपति हैं। पूँजीवादी—साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था और उसके असली मालिक, पक्ष—विपक्ष की पार्टियों के नेता और नौकरशाह

दिन-रात उनकी सेवा में जुटे रहते हैं। अपनी अपार सम्पत्ति के दम पर पूँजीपति वर्ग अपने मनोनुकूल कानून बनवाने और उन्हें लागू करवाने के लिए नेताओं, नौकरशाहों, मीडिया, पत्रकारों, विशेषज्ञों और लॉबिंग करने वालों को खरीदते हैं। वे करोड़ों की रिश्वत देकर अरबों-खरबों की लूट करते हैं। चाहे सरकारी लोकपाल हो या अन्ना का जन लोकपाल, दोनों में से किसी ने भी इनको निशाना नहीं बनाया। शायद यही कारण है कि अन्ना के आन्दोलन को इन्हीं पूँजीपतियों का प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग और समर्थन हासिल हुआ।

विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी साम्राज्यवादी संस्थाएँ और बहुराष्ट्रीय निगम दुनिया भर में भ्रष्टाचार के बहुत बड़े स्रोत हैं। इस पर अनेक शोध, अध्ययन और लेख प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरी दुनिया के देशों के शासन-प्रशासन के ढाँचे को भ्रष्ट करके अपने मनोनुकूल नीतियाँ बनवाना, अपने गुप्त समझौतों और दुरभिसंधियों को लागू करवाना, अपने लिए बड़े-बड़े ठेके और परियोजनाएँ हासिल करना, हथियार के सौदे करना, अपने निर्यात को सुलभ बनाना, प्राकृतिक संसाधनों को हथियाना इनके रोजमर्रे के काम हैं। भारत में बड़े पैमाने के भ्रष्टाचार की जमीन इन्हीं विदेशी ताकतों और देशी पूँजीपतियों की मिलीभगत से तैयार हुई है। जब भ्रष्टाचार का कोई ठोस मामला किसी तरह उजागर हो जाता है तो वह सबको दिख जाता है और लोगों को गुस्सा भी आता है। लेकिन कानूनी लबादे से ढका हुआ भ्रष्टाचार का विकट दानव हमें नहीं दिखाई देता। हम उसे स्वाभाविक मानते हैं क्योंकि विकास के नये मंत्र के रूप में सब हमारे मन-मस्तिष्क में रोप दिया जाता है। अन्ना टीम इसी स्थिति का लाभ उठाते हुए केवल सतही भ्रष्टाचार को निशाना बनाती है और इसके लिए भारी समर्थन भी हासिल कर लेती है।

तीसरा- भ्रष्टाचार को लेकर हाय-तौबा मचाने वाले नैतिकता के प्रचारक, धर्मोपदेशक, अर्थशास्त्री, समाज सुधारक, पत्रकार और बुद्धिजीवी, इसके वर्गीय आधारों पर पर्दा डालते हैं और इसे लोभ-लालच की सामान्य मानवीय प्रवृत्ति और नैतिक पतन का नतीजा मानते हैं। वे हीरा चुराने वालों और खीरा चुराने वालों को एक ही तराजू पर तौलते हैं। इस तरह यह आम धारणा बन गयी

है कि हमारे समाज में सभी लोग भ्रष्ट हैं। यह सरासर झूठ है।

समाज के विभिन्न वर्गों और भ्रष्टाचार के साथ उनके सम्बन्धों की जाँच करें तो इस प्रचलित धारणा से एकदम अलग ही तस्वीर सामने आती है। कुछ वर्ष पहले प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर अरुण कुमार ने भारत में भ्रष्टाचार पर अपना अध्ययन प्रस्तुत किया था जिसके अनुसार उस दौरान देश में 25,00,0000 करोड़ की काले धन की सामानांतर अर्थव्यवस्था मौजूद थी। इस अपार काली कमाई के लिए जिम्मेदार कौन है? इस पर किसका कब्जा है?

हमारे देश में लगभग 30 करोड़ लोग शहरों में रहते हैं जिनमें से आधी आबादी छोटे-मोटे धंधों में लगे लोगों और मेहनतकशों की है। देश की कुल अर्थव्यवस्था में इनका हिस्सा बहुत कम है तथा भ्रष्टाचार और काले धन की अर्थव्यवस्था में इनकी भागीदारी नगण्य है। शहरी आबादी के बाकी आधा भाग का अधिकांश हिस्सा ही भ्रष्टाचार में लिप्त है जिनके शीर्ष पर पूँजीपति, उद्योगपति और उनका प्रबन्ध तंत्र, डीलर, डिस्ट्रीब्यूटर, कमीशन एजेंट, सट्टेबाज तथा निर्माण, रियल इस्टेट, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, पेंशन और सेवा क्षेत्र के विभिन्न व्यवसायों के मालिक और सरकारी अधिकारी, कर्मचारी, छोटे-मझोले पूँजीपति, व्यापारी और अन्य परजीवी शामिल हैं। ये सब आपस में मौसेरे भाई हैं। ग्रामीण आबादी का एक बहुत छोटा और नगण्य हिस्सा ही काले धन की अर्थव्यवस्था में शामिल है क्योंकि देश की अर्थव्यवस्था में ग्रामीण इलाके की भागीदारी बहुत कम, लगभग 20 प्रतिशत है। प्रोफेसर अरुण कुमार का अनुमान है कि आबादी का 3 प्रतिशत ऊपरी हिस्सा ही काले धन की अर्थव्यवस्था में सबसे ज्यादा लिप्त है। यदि छोटे-बड़े सभी तरह के भ्रष्टाचार को ले लिया जाये तो यह दायरा 15 प्रतिशत ऊपरी तबके तक जाता है। एक अध्ययन के मुताबिक देश की आधी आय ऊपरी 20 प्रतिशत लोगों के हाथ में जाती है। यानी इतनी बड़ी आमदनी के साथ-साथ यही ऊपरी तबका 25,00,0000 लाख करोड़ के काले धन पर भी काबिज है। इसी काले धन की बदौलत इस वर्ग का इस देश की सत्ता पर भी नियंत्रण है जिसके जरिये यह धनाढ्य वर्ग कानूनी तौर

पर अपने लिए मोटी तनखाह और सुविधाएँ (वेतन आयोग बनाकर या संसद में प्रस्ताव पास करके) जुटाने के अलावा, टैक्स में छूट, सरकारी धन का बंदरबाँट, अरबों का फायदा पहुँचाने के बदले करोड़ों की रिश्वत और हर तरह के जुगाड़ से सार्वजनिक सम्पत्ति की कानूनी-गैरकानूनी लूट में दिन रात शामिल रहता है। यही तबका वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण का सबसे बड़ा पैरोकार और नवउदारवादी लूटतंत्र का सामाजिक आधार है। इसे अपने अलावा सभी भ्रष्ट नजर आते हैं और सबसे ज्यादा भ्रष्टाचार पर प्रवचन भी यही लोग देते हैं। अन्ना के आन्दोलन में भी इसी तबके के लोग सबसे आगे थे। अपनी सुविधानुसार भ्रष्टाचार को लेकर इनके अलग-अलग बोध हैं। इनका मानना है कि इनकी परिभाषा के मुताबिक जो भ्रष्टाचार है, उसे खत्म कर दिया जाये तो यह व्यवस्था सुचारु रूप से चलने लगेगी। सरकार और सिविल सोसाइटी के बीच टकराव का कारण यही अलग-अलग बोध है। अगर देश में पहले से ही मौजूद कानूनों को कड़ाई से लागू कर दिया जाये तो शायद इस तबके के कुछ लोगों को छोड़कर बाकी सभी जेल की सलाखों के पीछे होंगे। लेकिन व्यवस्था को चलाने वाले लोग भी चूँकि इसी तबके से हैं, इसीलिए हमारे यहाँ छोटे चोरों को सजा होती है और बड़े चोरों को पुरस्कृत किया जाता है। जब तक चोरी पकड़ी नहीं जाती, तब तक हर चोर प्रतिष्ठित नागरिक होता है, चाहे कलमाड़ी हों, ए. राजा, हसन अली, रेड्डी बंधु, यदुरप्पा या अलॉ-फ़लॉ... सूची अंतहीन है। सत्ता के शीर्ष पर विराजमान लोगों तथा सफेदपोश और संगठित अपराधियों के बीच गहरे रिश्ते हैं। लोकपाल की जगह साक्षात ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी आ जायें तो वे भी इस व्यवस्था के रहते कुछ नहीं कर पाएँगे।

दरसल भ्रष्टाचार इस व्यवस्था का अलिखित विधि-विधान और समान्तर कार्य-प्रणाली है। यह इस व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने में ग्रीस और मोबिल ऑयल का काम करता है। भ्रष्टाचार से एकत्रित काले धन का एक हिस्सा स्विस बैंक या लिचेंस्टीन बैंक में जमा होता है और फिर विश्व अर्थव्यवस्था में सफेद बनकर दौड़ता है। (भारत में विदेशी निवेश और कर्ज के रूप में वापस आकर प्रतिष्ठित होता है।) दूसरा भाग

अपने ही देश में सफेद होकर पूँजी में बदल दिया जाता है और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का वैधानिक हिस्सा बन जाता है। इस कार्य के लिए एक पूरी कार्य प्रणाली विकसित हुई है— दान-पुण्य से लेकर खेती की आय, मनोरंजन उद्योग, भवन निर्माण उद्योग और यहाँ तक कि मनी लॉडरिंग (काले धन की स्वैच्छिक घोषणा) कानून तक। ताजा समाचार यह है कि भारत के पूँजीपतियों ने सरकार से विदेशों में जमा कला धन आसानी से वापस लाने के लिए कानून बनाने की अपील की है ताकि पूँजी निवेश कि समस्या हल हो। इस तरह वर्तमान दौर में भ्रष्टाचार की बेलगाम बढ़ती प्रवृत्ति दरअसल आदिम पूँजी संचय का ही एक रूप है। यह आदम-हव्वा के द्वारा वर्जित फल खाने की तरह ही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का आदिम पाप है। पूँजी शिष्टाचार से पैदा नहीं होती, जन्म से ही वह खून और कीचड़ से लथपथ होती है।

वैश्वीकरण के इस दौर में अर्थतंत्र और राजनीति के बीच, सार्वजनिक और निजी स्वार्थों के बीच तथा व्यवसाय और जनसेवा के बीच के सारे फर्क मिटाए जा रहे हैं। इसी के साथ सत्ता की राजनीति खुद ही एक नग्न रूप ले चुकी है। एक जमाना था जब इसे ठीक नहीं माना जाता था हालाँकि तब भी सत्ता की राजनीति पूँजीवादी व्यवसाय को संरक्षण देने और बदले में अपने लिए उनसे चंदा लेने का काम करती थी जो स्वीकृत और जायज था। अक्सर यह भ्रम फैलाया जाता है कि लोकतंत्र में सरकार का काम बाजारवाद और पूँजीवादी अर्थतंत्र पर अंकुश रखना है, ताकि वे जनता का निर्मम शोषण न करें। सच्चाई यह है कि सरकार का काम पूँजीवाद की हिफाजत करना है। नेहरूवाद के दौर में इस पर समाजवाद-संरक्षणवाद का पर्दा पड़ा हुआ था जिसे अब हटा दिया गया है। अब पूँजीपति और उनके नुमाइंदों के बीच का अंतर काफी हद तक मिट गया है। यही कारण है कि पूँजीवाद द्वारा श्रम की वैधानिक लूट और शोषण, जो वास्तव में भ्रष्टाचार ही है, उसे काफी पीछे छोड़ते हुए हर कीमत पर मानव श्रम, प्राकृतिक संसाधन और सार्वजनिक सम्पत्ति की लूट-खसोट में ज्यादा तेजी आयी है। इसके साथ ही भ्रष्टाचार का नंगा नाच भी पहले से कई गुना अधिक बढ़ा है। इंदिरा गाँधी के जमाने में जो 10 लाख रुपये का नागरवाला काण्ड

हुआ था, वह आज के हर्षत मेहता, हसन अली, कलमाड़ी और ए. राजा काण्ड के आगे भला क्या था? 'भद्रलोक' को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और पूँजीवादी शोषण के बेलगाम होने से कोई शिकायत नहीं है। वे सतह पर दिखने वाले भ्रष्टाचार के इस घिनौने चेहरे से लज्जित हैं और इसे खत्म करके पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की छवि सुधारने का अपना कर्तव्य निभा रहे हैं। इससे आगे वे देखना नहीं चाहते।

अमरीका के कहने पर मणि शंकर अय्यर को हटा कर मुरली देवड़ा को पेट्रोलियम मंत्री बनाना, क्योंकि अमरीका, इरान—पाकिस्तान—भारत गैस पाइप लाइन के विरुद्ध था, यह कहाँ का शिष्टाचार है? पूँजीपतियों का एक समूह एक लॉबिस्ट को भरपूर पैसा देकर अपने मनमाफिक आदमी ए. राजा को संचार मंत्री बनवाता है, अतीतग्रस्तता के कारण गुटनिरपेक्षतापूर्ण बयानबाजी की जुर्रत करने वाले विदेश मंत्री नटवर सिंह को निकाल बाहर करना और वे तमाम बातें जिनका खुलासा विकिलिक्स ने किया, भला किस कोटि का आचार हैं? बिना लेन—देन के ही सही, सार्वजनिक सम्पत्तियों की कौड़ियों के मोल नीलामी और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हित में असमान व्यापार समझौते, नाभिकीय समझौते पर संसद की मोहर लगवाने के लिए खरीद—फरोख्त (जिसके बारे में सर्वोच्च न्यायालय ने पूछा है कि इतना पैसा कहाँ से आया?) यह सब नैतिकता की किस कोटि में आते हैं? ऐसे मामलों में 'भद्रलोक' गाँधी जी के तीन बंदरों की तरह आचरण क्यों करता है?

सबसे बड़ी बात यह कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कोई भी भ्रष्टाचार शिष्टाचार बन जाता है, जब व्यवस्था के संचालक किसी भ्रष्ट आचरण—व्यवहार या पेशे को कानूनी जामा पहना देते हैं, जैसे— वित्तमंत्री के मुख्य सलाहकार कौशिक बासु ने कुछ विशेष प्रकार की रिश्वतखोरी को वैधानिक बना देने का सुझाव दिया और शीर्षस्थ पूँजीपति नारायणमूर्ति सहित अनेक लोगों ने इसका समर्थन भी किया। लॉबिंग को परामर्श सेवा का दर्जा देने की चर्चा चल रही है, पैसा लेकर सवाल पूछने और अमरीका की तरह यहाँ भी सांसदों को लॉबी बनाने की इजाजत देने की सिफारिश कुछ साल पहले भाजपा ने की थी। काले धन को सफेद करने के लिए कानून

बनाया जाना, सोने के आयात की छूट देना, सीमा शुल्क 350 प्रतिशत से घटाकर 10 प्रतिशत कर देना, श्रम कानूनों में ढील देकर मजदूरों के निर्मम शोषण को कानूनी रूप देना, उदारीकरण—निजीकरण के जरिये पूँजी को बेलगाम छूट देना, 1991 से पहले गैर कानूनी समझे जाने वाले काले धंधों (काला बाजारी, सट्टेबाजी, जमाखोरी, कर चोरी) को कानून बनाकर वैधानिक करार देना भी उसके अन्य उदाहरण हैं। विदेशों से सोना लाने वाले तश्करों पर अब फिल्में नहीं बनती। नेपाल से विदेशी उपभोक्ता वस्तुओं की तश्करी अब पुराने जमाने की बात हो गयी है। ऐसे ढेर सारे धंधे जो 1991 से पहले भ्रष्टाचार की श्रेणी में आते थे आज वे शिष्टाचार हैं। अभी ढेर सारे ऐसे भ्रष्टाचार हैं जो शिष्टाचार की श्रेणी में बदले जाने की प्रतीक्षा में हैं। सम्भव है कि लोकपाल के पदभार सँभालने तक भ्रष्टाचार के ढेर सारे मामले उनके दायरे से बाहर हो जायें। संसद में अस्सी से अधिक कानून पास होने की बाट जोह रहे हैं।

भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन के ध्वजवाहक लोकरंजक शैली में लोगों से कहते हैं कि 'सरकार नौकर है और हम सब उसके मालिक हैं।' वे यह नहीं बताते कि आखिर क्यों यह नौकर अपने मालिक की छाती पर मूँग दल रहा है? लोकतंत्र बहुमत की इच्छा न होकर कुलीनतंत्र क्यों है? राज्य के संचालकों के पास जितने अधिकार केंद्रित होते हैं उसके कारण उनका नौकर से मालिक बन जाना, भ्रष्टाचार रोकने के बजाय उसका स्रोत बन जाना लाजिमी है। साथ ही, यह प्रक्रिया उतनी ही तेज होती जाती है जितनी तेजी से गरीबी—अमीरी की खाई चौड़ी होती जाती है, बहुसंख्य जनता कंगाली के गर्त में धकेली जाती है, उसे राज—समाज के काम—काज में भागीदार होने के लायक नहीं समझा जाता (क्योंकि सरकारी नीतियों के चलते भद्रलोक की तुलना में राष्ट्रीय आय में उनका हिस्सा लगातार कम से कमतर होता जाता है।) और सरकार के विभिन्न अंग जितना अधिक खुद को जनता से दूर करते जाते हैं। भ्रष्टाचार की आपराधिक कार्यवाहियों के अलावा शासक वर्ग अपने विशेष अधिकारों के दम पर अपने और अपने सहयोगियों के वेतन—भत्ते और सुविधाएँ, जनता की बहुमत की औसत आय (जहाँ 77 प्रतिशत लोग 20 रुपये रोज पर गुजर करते हैं।) से

कई-कई गुना अधिक बढ़ाते चले जाते हैं। आर्थिक हैसियत के साथ-साथ उनकी सामाजिक हैसियत भी बढ़ती है और वे जनता के ऊपर सवारी गाँठने वाले नये राजा-महाराजा बनते जाते हैं। आज की पीढ़ी के लिए कल्पना करना शायद कठिन हो कि पहले अधिकांश नेता (भले ही उनके विचार पूँजीवादी हों और वे मूलतः पूँजीपतियों के ही नुमाइंदा रहे हों) आज से बहुत कम सुविधा सम्पन्न थे। बसों में आज भी 'सांसद और विधायक सीट' लिखा दिख जाता है जो बताता है कि पहले वे लोग भी बसों में सफर करते रहे होंगे। जनता की बढ़ती कंगाली की कीमत पर अपने लिए वैभव-विलास जुटाने की यह कार्रवाई खुली तानाशाही के अधीन तो होती ही है, लेकिन उन लोकतान्त्रिक देशों में भी निर्बाध रूप से होती है जहाँ राज्य के केवल एक अंग (विधायिका) का मतदान के द्वारा चुनाव करने की औपचारिकता के अलावा ऊपर से नीचे तक किसी भी 'लोकतान्त्रिक' संस्था में या उसकी कार्यवाहियों में जनता की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं होती। राज्य के प्रमुख कार्यकारी अंग नौकरशाही और न्यायतंत्र का चुनाव लोकतांत्रिक तरीके से नहीं होता, बल्कि इन विशेषाधिकार प्राप्त और सुविधा सम्पन्न लोगों को जनता पर ऊपर से थोप दिया जाता है। निगम नियंत्रित मीडिया भी जिसे लोकतंत्र का पहरेदार कहा जाता है, बाजार और मुनाफे से प्रेरित है और मुनाफाखोरी का परम हितैषी है। पिछले दिनों मीडिया-नेताओं-पूँजीपतियों की दुरभिसंधियों के एक से बढ़कर एक मामले सामने आये। कुल मिलाकर इनमें से कोई भी संस्था जनता के प्रति जवाबदेह नहीं है। इन सबका हित जनता के विपरीत है। इनको जनता का नौकर बताना जनभावनाओं को सहलाना और लोगों को भरमाना है। भ्रष्टाचार की जननी, इस पूरी व्यवस्था की असलियत बताने और पर्दाफाश करने के बजाय उसी पर निर्भर रहते हुए भ्रष्टाचार मिटाने की बात करना, उसे और अधिक मजबूत बनाने के लिए कठोर कानून की हिमायत करना और उसके प्रति अन्धश्रद्धा को बढ़ावा देना दरअसल भ्रष्टाचार को चिरस्थायी बनाना है। भ्रष्टाचार की जड़ पर प्रहार करने के बजाय उस पर अंकुश लगाने के लिए प्रशासनिक और कानूनी सुधारों की माँग करना जनता में व्याप्त व्यवस्था विरोधी असंतोष

और आक्रोश को शान्त करना और उसके मन में व्यवस्था के प्रति विश्वास पैदा करने का प्रयास मात्र है। जब तक राज्य के सभी अंगों का जनता से अलगाव दूर नहीं होता, राज्य चलाने के कार्यों में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी सुनिश्चित नहीं होती, राज्य के सभी अंग जनता के प्रति पूरी तरह से जवाबदेह नहीं होते, चुने जाने, चुनने और वापस बुलाने का अधिकार सही मायने में बहुमत के हाथों में नहीं आता, तब तक 'नौकर के मालिक बन बैठने' और उसे भ्रष्ट होने से दुनिया की कोई ताकत रोक नहीं सकती। यह सतही सुधारों या कानूनी फेर-बदल से नहीं होगा। लूट पर टिकी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के रहते इनमें से कुछ भी सम्भव नहीं है।

विश्व अर्थव्यवस्था पर पलने वाला परजीवी है अमरीका

रूस के प्रधानमंत्री ब्लादिमिर पुतिन ने संयुक्त राज्य अमरीका पर अपनी आय से अधिक खर्च करने और वैश्विक अर्थव्यवस्था पर एक परजीवी की तरह पलने का आरोप लगाया। उनका कहना था कि डॉलर का वर्चस्व वित्तीय बाजारों के लिए खतरनाक है।

क्रैमलिन समर्थक युवा संघ के ग्रीष्म कैंप में पुतिन ने कहा कि "अमरीका अपने स्रोत-साधनों से बहुत अधिक खर्च कर रहा है और अपनी समस्याओं का बोझ विश्व अर्थव्यवस्था पर लाद रहा है। अपनी परजीवित्ता और डॉलर के वर्चस्व की बदौलत ही वह जिन्दा है।"

अमरीकी कर्ज संकट और उसकी साख गिरने को लेकर परेशान पुतिन ने कहा कि रूस ने बहुत बड़ी रकम वहाँ के सरकारी बॉण्ड और ट्रेजरी में निवेश किया है। अगर वे लगातार गड़बड़ी करते रहे तो उसके चलते हर कोई बर्बाद होगा।

नहीं रहा जनता का अपना कलाकार 'भाई मन्ना सिंह'

28 सितम्बर को दिल्ली से सटे, लोनी (गाजियाबाद) के छात्र-नौजवान भगत सिंह जयन्ती पर उनके जीवन और विचारों पर आधारित नुक्कड़ नाटक प्रस्तुत कर रहे थे। उन्होंने आस-पास के गाँवों-कस्बों और मुहल्लों में हर रोज *इन्कलाब जिन्दाबाद* के कई प्रदर्शन किये। किसी दिन एक, तो किसी दिन चार-चार स्थानों पर। उन रंगकर्मियों को यह खबर नहीं थी कि वे इतने उत्साह से जिस नाटक की प्रस्तुति कर रहे हैं, उसके लेखक, नुक्कड़ नाटक आन्दोलन के प्रवर्तकों में अग्रगण्य, गुरुशरण सिंह का एक दिन पहले, 27 सितम्बर की रात साढ़े ग्यारह बजे चण्डीगढ़ स्थित आवास पर देहान्त हो गया। जब किसी साथी ने उन नौजवानों को यह शोक-समाचार फोन पर बताया तो उन्होंने नाटक के बीच ही दर्शकों को उनका संक्षिप्त परिचय देते हुए उन्हें अपनी भाव-भीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। उन्होंने बताया कि गुरुशरण सिंह हमारे बीच हमेशा जिन्दा रहेंगे, क्योंकि उन्होंने ही हमें यह शानदार तरीका सिखाया कि हम अपने लोगों से सीधा-संवाद कैसे कायम करें। सम्भव है कि देश के अन्य इलाकों में भी ठीक ऐसी ही घटना दुहरायी गयी हो।

70-80 के दशक में जब नुक्कड़ नाटक एक सांस्कृतिक आन्दोलन का रूप ले चुका था, तब शायद ही कोई ऐसी टोली रही हो जिसने गुरुशरण सिंह के पंजाबी नाटकों के अनुवाद की अनेकानेक प्रस्तुतियाँ न की हों। *इन्कलाब जिन्दाबाद*, *हवाई गोले*, *गढ़वा*, *तमाशा*, *ये लहू किसका है*, *बाबा बोलता है*, *जंगीराम की हवेली...*। अपने 82 वर्ष के जीवन में गुरुशरण भ्राजी ने लगभग 6000 नुक्कड़ नाटकों की प्रस्तुति की, 170 नाटक, विभिन्न विषयों की 13 पुस्तकें, पंजाबी भाषा के दो अति लोकप्रिय सीरियल - *भाई मन्ना सिंह और दास्ताने पंजाब* तथा एक फिल्म *मन जीत जग जीत* की पटकथा लिखी।

पंजाब की मेहनतकश जनता के वे इतने करीब,

इतने अपने थे कि लोग उन्हें भाई मन्ना सिंह (उनके सीरियल के किरदार का नाम) कहा करते। पाँच साल पहले पंजाब के लोगों ने बरनाला के निकट कुस्सा गाँव में उनके क्रान्तिकारी समर्पण को सलाम करते हुए एक विराट जन-सभा का आयोजन किया। अपने प्रिय 'भाई मन्ना सिंह' के सम्मान में उमड़े 20,000 लोगों के समूह ने जब 'युग-युग जिये गुरुशरण सिंह' का नारा बुलन्द किया तो आकाश गूँज उठा। वे लोग पंजाब के दूर-दराज इलाकों से उस आवाज को सुनने और उस किरदार को देखने आये थे जिसने अपने अभिनय से न जाने कितनी बार उनकी आँखों को छलकाया था। उनके मन में हलचल पैदा की थी और भावनाओं के उतार-चढ़ाव के बीच बड़ी सहजता और आत्मीयता के साथ जिन्दगी के असली मायने और मकसद बताया था। उनकी लोकप्रियता का आलम यह है कि पंजाब के लोग अपने बेटे-बेटियों की शादी में उनके नाटकों का आयोजन कराने का सपना देखते। हिन्दी के किसी भद्र-शालीन नाटककार के बारे में इन बातों की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

हमारे यहाँ नाटक जैसे सशक्त माध्यम को युगों-युगों तक विशुद्ध मनोरंजन तक सीमित रखा गया, जबकि लोगों से सीधे संवाद कायम करने की ऐसी ताकत किसी अन्य कला-विधा में नहीं है। अब से 57 साल पहले गुरुशरण भ्राजी ने सामाजिक बदलाव में नाट्य विधा की भूमिका को पहचाना और अंतिम साँस तक उसे व्यवहार में उतारते रहे। यह उस जमाने की बात है जब वे भाखड़ा नांगल परियोजना में बतौर इन्जीनियर काम करते थे। उन्होंने '*लोहड़ी दी हड़ताल*' नाटक का प्रदर्शन किया जो वहाँ के मजदूरों को जागृत और आन्दोलित करने में काफी कारगर साबित हुआ। यह घटना 1954 की है। इसी के बाद उन्हें जनता से जुड़ने में नाटक के महत्त्व का गहरा अहसास हुआ।

गुरुशरण भ्राजी जिस दौर और जिस माहौल में

पले-बढ़े, उसका उनके व्यक्तित्व पर स्पष्ट प्रभाव हुआ। भगत सिंह की शहादत के समय वे दो साल के थे। उनका बचपन और किशोरावस्था स्वाधीनता संघर्ष के उत्कर्ष काल का प्रत्यक्षदर्शी रहा। बाद में अपने निकट सम्बन्धी (बहनोई) प्रो. रणधीर सिंह के माध्यम से वे मार्क्सवाद के प्रभाव में आये और इस विचार के कायल हुए कि स्पष्ट राजनीतिक दृष्टि और सक्रिय राजनीति के बिना समाज को बदलना मुमकिन नहीं।

वे बिना किसी लाग-लपेट के स्वीकारते थे कि "हमारे नाटक राजनीतिक हैं। मैं राजनीति की व्याख्या अपने दृढ़ साम्यवादी विचार के माध्यम से करता हूँ। सच तो यह है कि नुककड़ नाटक की शुरुआत ही वामपंथी विचारधारा को लेकर हुई थी"। इन्हीं विचारों की रोशनी में वे नाटकों के जरिये जनता की पीड़ा-व्यथा, आशा-आकांक्षा, आक्रोश और प्रतिरोध को आवाज देते रहे। आपातकाल के दौरान उन्होंने 'तख्त लाहौर' नाटक किया, जिसके कारण उन्हें गिरफ्तार करके 48 दिनों तक जेल में रखा गया। लेकिन इस घटना के बाद वे और मजबूती से अपने अभियान में जुट गये। उनका कहना था कि "जनता की आवाज दबेगी नहीं।"

पंजाब में नाट्य विधा को लोकप्रिय बनाने और ऊँचा उठाने के लिए 80 के दशक में उन्होंने चंडीगढ़ स्कूल ऑफ ड्रामा की स्थापना की। हर साल वहाँ उनके नाम पर नाट्य उत्सव होता है। साथ ही उन्होंने चंडीगढ़ में ही प्राचीन कला केन्द्र नाम से एक मंडली का भी गठन और संचालन किया। ग्रामीण कलाकारों को प्रशिक्षित करने के लिए पंजाब के गाँवों में उन्होंने कुल 35 नाट्य केन्द्रों की स्थापना की। इतना ही नहीं, उन्होंने एक नयी नाट्य विधा के रूप में पिण्डू नाटक (ग्रामीण नाटक) को भी काफी लोकप्रिय बनाया, जिसका उद्देश्य आधुनिक विचारों और संवेदनाओं के साथ ग्रामीण यथार्थ की प्रस्तुति करना है। उनके कथानक और संवाद में हँसी-मजाक और तीखे व्यंग्य इतने सहज रूप में घुले-मिले होते हैं कि दर्शक को अपनी ही जिन्दगी का हिस्सा लगते हैं। लेकिन साथ ही उनमें गहरे अर्थ छिपे होते हैं, जिनको दर्शक आसानी से पकड़ सकते हैं।

शेक्सपियर के इस कथन को कि "यह पूरी दुनिया

एक रंगमंच है," गुरुशरण सिंह ने एक दूसरे तरीके से सच कर दिखाया। उनका कहना था कि 'मेरे लिए कोई भी जगह एक मंच है, चाहे नुककड़-चैराहा हो, या मन्दिर का चबूतरा या गाँव की चौपाल।' सभ्य समाज के सजे-धजे रंगमंच और नाट्यशालाओं को उन्होंने यह कहते हुए ठोकर मार दी कि यहाँ तो लोगों से सीधे संवाद करने की गुंजाइश ही नहीं है।

जो लोग भाषणबाजी कहकर उनके नुककड़ नाटकों की खिल्ली उड़ाते थे वे आखिरकार उनकी जिद के आगे हार कर उनका महत्त्व स्वीकारने पर मजबूर हुए। कला-रत्न पुरस्कार से लेकर कालिदास सम्मान तक उन्हें ढेर सारे सरकारी-गैर सरकारी अलंकरण और अभिनन्दन प्राप्त हुए। मुल्लनपुर में उनके नाम से एक रंगशाला का भी निर्माण किया गया। लेकिन आम लोगों के प्रति उनके गहरे लगाव और समर्पण तथा बदले में उनसे मिलने वाले 'भाई मन्ना सिंह' और पंजाबी नाटक के 'बाबा बोहड़' जैसे खिताबों के आगे वे सभी पुरस्कार छोटे हैं।

अनीता शब्दीश ने उनके जीवन और कार्यों पर आधारित एक डोक्यूमेंट्री फिल्म बनायी है जिसमें उन्हें "क्रान्ति दा कलाकार" नाम दिया है। जनता का यह सच्चा कलाकार हमें रास्ता दिखाता, खुद उस पर चलता हुआ, अन्ततः अदृश्य हो गया। बाकी काम हम लोगों के जिम्मे!

साहित्य का उद्देश्य

... जब तक साहित्य का काम केवल मनबहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हल्का करना था, तब तक इसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था, जिसका गुम दूसरे खाते थे, मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सज्जन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो- जो हममें गति और बेचैनी प्रदान करे, सुलाये नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।

—प्रेमचंद

एक परिवार की कहानी

जो बत्तीस रुपये रोज से अधिक खर्च करता है

अमरपाल/ पारिजात

(योजना आयोग की ताजा रिपोर्ट के अनुसार शहरी क्षेत्र में 32 रुपये और ग्रामीण क्षेत्र में 26 रुपये प्रतिदिन प्रति व्यक्ति खर्च करने वाला परिवार गरीबी रेखा से ऊपर माना जायेगा।

इस 32 रुपये और 26 रुपये में भोजन, आवास, वस्त्र, शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन जैसे सभी खर्च शामिल हैं। हमने अपने आस-पास के कुछ परिवारों से बातचीत कर उनकी जिन्दगी की हकीकत जानने की कोशिश की। स्थानाभाव के कारण हम उनमें से एक ही परिवार की स्थिति यहाँ दे रहे हैं। बाकी लोगों की कहानी भी लगभग ऐसी ही है।)

अब से 14 साल पहले चंद्रपाल (उम्र— 45 वर्ष) एक लोहा फ़ैक्ट्री में काम करते थे, जहाँ भारी वजन उठाने के चलते उनकी रीढ़ की हड्डी खिसक गयी। तभी से वे कोई भारी काम करने लायक नहीं रहे। उन्हें घर बैठना पड़ा। इलाज के अभाव में वे अब लगभग अपंग हो गए हैं।

चंद्रपाल मूल रूप से खुर्जा (बुलंदशहर) के रहने वाले हैं। जब वह छोटे थे तभी दवा के अभाव में डायरिया से उनके पिता की मौत हो गयी थी। चंद्रपाल बताते हैं कि उनके माता-पिता की दस संताने हुईं, जिनमें से सिर्फ़ तीन ही बच पायीं। बाकी सभी बच्चे बीमारी और कुपोषण से मर गये। जो बचे रहे उनमें भी बड़े भाई टीबी होने और खुराक न मिलने से मर गए। उनकी माँ ने खेत में मजदूरी करके किसी तरह अपने बच्चों को पाला-पोसा और चंद्रपाल को 12वीं तक पढ़ाया। इसके बाद वे खुर्जा शहर में ही एक लोहे की फ़ैक्ट्री में काम करने लगे। फ़ैक्ट्री में काम दौरान रीढ़ की हड्डी की परेशानी और बेहतर काम की तलाश में वे दिल्ली चले आये।

दिल्ली के पास लोनी में उनका 50 गज का अपना मकान है तीन कमरों का, जिस पर पलस्तर नहीं हुआ है। 1997 में उन्होंने यह जमीन 55 हजार रुपये में खरीदी थी जो अपने खून पसीने की कमाई और खुर्जा का पुश्तैनी मकान बेचकर जुटाया था। उन्होंने अपना सारा पैसा इसी घर में लगा दिया, लेकिन फिर भी मकान अधूरा ही बन पाया। चंद्रपाल और उनका बेटा अब खुद ही उसे

थोड़ा-थोड़ा करके पूरा करते हैं। मकान में काम करते हुए ही चंद्रपाल के एक हाथ की हड्डी भी टूट गयी, जो इलाज के बाद भी नहीं जुड़ी। परिवार की आमदनी इतनी नहीं कि ऑपरेशन करवा सकें। ये दर्द अब उनकी जिन्दगी का हिस्सा बन गया है। अब वे हाथ से भी भारी काम करने में अक्षम हैं।

परिवार का खर्च उनकी पत्नी अंगूरी देवी चलाती हैं। वे दिल्ली में किसी सेठ की कोठी पर घरेलू नौकरानी का काम करती हैं। पूरे दिन घर का सारा काम करने के बदले उन्हें हर महीने 5 हजार रुपये मिलते हैं। पिछले 14 साल में केवल एक हजार रुपये की बढ़ोत्तरी हुई। वे सारा पैसा घर में देती हैं। अपने पास एक धेला भी नहीं रखती। इसका कारण बताते हुए कहती हैं कि बाजार में चलते हुए कभी उनका मन ललचा गया तो गलती से वह कुछ खरीद न लें। इसीलिए उनके पास सिर्फ़ 70 रुपये का रेल पास रहता है, ताकि वे रोज लोनी से दिल्ली आ-जा सकें।

चंद्रपाल के घर में बिजली कनेक्शन नहीं है। किराये पर जनरेटर का कनेक्शन है जो रात को तीन घण्टे बिजली देता है, जिससे 15 वाट का एक बल्ब जलता है। इसके लिए उन्हें 100 रुपये महीना देना होता है। बाकी समय वे ढिबरी से काम चलाते हैं। पीने के पानी का कनेक्शन भी नहीं है। घर में एक हैंडपम्प है। 120 फीट गहरा। दिल्ली और उसके आस-पास के इलाकों में इतनी गहराई

पर पीने लायक पानी नहीं मिलता। जगह—जगह बोर्ड लगे हैं कि हैंडपम्प के पानी का प्रयोग पीने के लिए न करें। लेकिन यहाँ तो इसी पानी से काम चलाना पड़ता है।

गंदे पानी की निकासी का कोई इंतजाम नहीं है और न ही गलियों की साफ सफाई का। घर के आगे नाली का पानी बहता है और घर के पीछे सड़ता—बजबजाता पानी का गड़ढा। परिवार में हरदम कोई न कोई बीमार रहता है। हर महीने इलाज पर औसतन 200 रुपये का खर्चा आता है। जो कुल आमदनी का 4 प्रतिशत बैठता है। चंद्रपाल के टूटे हाथ का इलाज कराना परिवार के बस का नहीं है। वे इस पर सोचते भी नहीं। वे जानते हैं कि सरकारी अस्पताल में ऑपरेशन करवाने पर भी उसमें कम से कम दो महीने की कमाई लग जाएगी।

बीमारी के बारे में चन्द्रपाल ने कहा कि लोनी में किसी को डेंगू नहीं होता। लोगों को सबसे ज्यादा मलेरिया होता है। डेंगू के मच्छर तो साफ पानी में पलते हैं। यहाँ तो पीने के लिए भी साफ पानी नहीं है। घर के आगे—पीछे हमेशा गन्दा पानी भरा रहता है। उसमें तो मलेरिया के मच्छर ही पलते हैं। मच्छर इतने कि घर में बैठ नहीं सकते। बीमारी की जड़ यही सब है।

इस परिवार का मुख्य भोजन आलू की सब्जी या चटनी और रोटी है। अंगूरी देवी अपने मालिक के यहाँ से कभी कोई सब्जी ले आयें, तभी उन्हें सब्जी नसीब होती है। हफ्ते में एक या दो दिन ही घर में सब्जी बनती है। हमारा देश मसालों के लिए मशहूर है, लेकिन इस घर में हल्दी, जीरा, धनिया और लाल मिर्च के अलावा और कोई मसाला इस्तेमाल नहीं होता।

चंद्रपाल के लिए फल खरीद पाना मुमकिन नहीं। सालों से परिवार में कोई फल नहीं आया। परिवार में माँस—मछली नहीं बनती। पनीर खाने के बारे में वे सोच भी नहीं सकते। अंगूरी देवी बताती है की जब से कोठी में काम करने लगीं तब से उन्हें चाय पीने की लत लग गयी। सुबह 6 बजे चाय पीकर ही वह काम पर जाती हैं। इसी बहाने घर में रोज 10 रुपये का 300 ग्राम दूध आता है। अपनी पत्नी की इस बुरी लत से चंद्रपाल खुश हैं क्योंकि इसी बहाने उन्हें भी दूध की चाय मिल जाती है। ईंधन में 3 लीटर मिट्टी का तेल राशन की दुकान से और 4 किलो रसोई गैस ब्लैक खरीद कर इस्तेमाल होता

है। खाने के मद में औसतन 3000 रुपये महीने का खर्च आता है जो की कुल आय का 60 प्रतिशत है।

जब हमने उनसे महँगाई के बारे में पूछा कि क्या इससे घर के खर्च पर कोई फर्क पड़ा है, तो वह बेबस होकर बोले “सरकार गरीबों की दुश्मन हो गयी है। हमसे न जाने किस जनम का बदला ले रही है। महँगाई दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। पहले एक आदमी काम करता था और पूरा परिवार खाता था। ठीक से गुजारा होता था। लेकिन अब तो महँगाई के मारे सबको काम करना पड़ता है, फिर भी किसी का गुजारा नहीं होता। हमारे सामने वाले परिवार में माँ—बाप और एक लड़की है, तीनों काम करते हैं। माँ—बाप बाहर और लड़की घर पर ही किसी के दो बच्चों की देखभाल का काम करती है। अपने घर का सारा काम भी वही करती है, फिर भी गुजारा नहीं। वे भी हमारे ही तरह हैं।”

भारत में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष 9 गज कपड़े की खपत होती है। चंद्रपाल के परिवार ने पिछले 14 सालों से शायद ही कभी कोई नया कपड़ा खरीदा हो। अंगूरी देवी जिस कोठी पर काम करती हैं वहीं से मिले उतरन को इस्तेमाल करने लायक बना लिया जाता है। यानी कपड़े के मद में वे कुछ भी खर्च नहीं करते।

परिवार की खराब स्थिति के बारे में बात चली तो अंगूरी देवी गुस्से में बोलीं—“अरे भइया क्या करें, कौन अपने बच्चों को अच्छा खिलाना—पिलाना नहीं चाहता। महँगाई ने मार डाला। हमारी जिन्दगी तो नरक बन गयी है। गरीबों का कोई नहीं है। पर क्या करें, भइया जीना तो पड़ता ही है।”

चंद्रपाल के दो बच्चे हैं बड़ा लड़का सरकारी स्कूल में 11वीं कक्षा में पढ़ता है। उसकी फीस 550 रुपये छमाही है। लड़की प्राइवेट स्कूल में 9वीं में पढ़ती है। पहले वे दोनों ही प्राइवेट स्कूल में पढ़ते थे, लेकिन फीस न भर पाने के कारण लड़के को सरकारी स्कूल में दाखिला लेना पड़ा। सरकार कुल जीडीपी का शिक्षा के मद में जितना खर्च करती है उससे ज्यादा यह परिवार करता है— कुल आय का लगभग 6.2 प्रतिशत और वह भी सबसे घटिया दर्जे की शिक्षा के बदले।

अंगूरी देवी ने बताया कि बच्चे कभी नहीं खेलते। चन्द्रपाल ने बीच में टोका कि पूरी लोनी में खेलने की कहीं

कोई जगह भी है क्या, जो खेलें। और खेल का सामान भी तो हो। उनका कहना था कि हमारा लड़का पढ़ाई में बहुत होशियार था। लेकिन अब पता नहीं उसे क्या हो गया है, पढ़ने में जी नहीं लगाता। 11वीं में फेल भी हो गया था पिछले साल। (हफ्ते भर बाद पता चला कि उनके लड़के ने पढ़ाई छोड़ दी है और अब कहीं काम ढूँढ रहा है।)

चंद्रपाल बताते हैं कि उन्होंने अपनी पत्नी के साथ 1992 में सिनेमा हॉल में कोई फिल्म देखी थी, वही पहला और आखरी मौका था। चंद्रपाल बहुत साल पहले पोस्टमैन की भर्ती परीक्षा में खुर्जा से लखनऊ गये थे। उसमें भी रेल में किराया नहीं दिया था और रात स्टेशन पर ही बितायी थी, पैसे के अभाव के कारण। यही उनकी जिन्दगी की सबसे लम्बी यात्रा रही।

पति-पत्नी दोनों का मानना है कि आज वह जिस हालत में हैं वह सब बाबा गोरखनाथ की कृपा है, इसलिए महीने में दो बार वे हरियाणा के किसी आश्रम में जाते हैं। इस यात्रा में लगभग 500 रुपये मासिक खर्च आता है। यदि इसे पर्यटन माने (जो है भी) तो इसमें उनकी आय का कुल 10 प्रतिशत खर्च होता है।

मनोरंजन का कोई साधन घर में नहीं है। चन्द्रपाल ने बताया कि “बहुत समय से एक रेडियो खरीदना चाहता हूँ, लेकिन तंगी की वजह से नहीं खरीद पाया। टीवी तो बहुत बड़ी बात है हमारे लिए, सपने जैसा।”

उनके घर में 2 टूटी खाट, वर्षों से खराब पड़ा एक 14 इंच का ब्लैक एण्ड व्हाइट टीवी, एक मेज और एक डबल बेड है। टीवी और डबल बेड अंगूरी देवी के मालिक ने बहुत ही सस्ते में दिया था, इसके अलावा मालिक का दिया हुआ एक मोबाइल फोन भी है। इसमें वे हर महीने औसतन 15 रुपये का रिचार्ज करवाते हैं। इस तरह संचार पर उनकी आमदनी का 0.3 प्रतिशत खर्च है। अखबार कभी कहीं दिख गया तो चन्द्रपाल उसे पढ़ लेते हैं। खरीद पाना उनके बस का नहीं।

इस परिवार की प्रति व्यक्ति मासिक आमदनी 1250 रुपये यानी प्रतिदिन 41 रुपये 70 पैसे है जो सरकार द्वारा तय किये गये गरीबी रेखा के पैमाने (960 रुपये) की तुलना में 290 रुपये ज्यादा है। जबकि परिवार के लोग ठीक से खाना भी नहीं खा पाते, भोजन में प्रोटीन, वसा और

विटामिन का कोई नामों निशान नहीं, कपड़ा नहीं खरीदते, रहन-सहन का स्तर बहुत ही खराब है, पीने का साफ पानी मयस्सर नहीं, बीमार पड़ने पर उचित इलाज नहीं करा सकते, बच्चों को पढ़ा नहीं सकते, मनोरंजन के बारे में सोच भी नहीं सकते, त्योहार नहीं मनाते, सर के ऊपर किसी तरह छत तो है लेकिन, दड़बेनुमा, गन्दगी भरे माहौल में वे दिन काट रहे हैं। जाड़े में सीलन और ठण्ड, बरसात में कीचड़, गर्मी में तपिस। चारों ओर बदबू और मच्छर। इस नरक से भी बदतर जिन्दगी की गाड़ी उसी दिन पटरी से उतर जायेगी जिस दिन किसी कारण से परिवार की आय का एक मात्र जरिया, अंगूरी देवी की घरेलू नौकरानी की नौकरी छूट जायेगी।

लेकिन योजना आयोग की नजर में यह परिवार गरीबी रेखा से ऊपर है। चूँकि यह परिवार गरीब नहीं है, इसलिए यह कोई भी सरकारी सहायता पाने का हकदार नहीं है।

अर्जुन सेन गुप्ता कमेटी की रिपोर्ट के मुताबिक 77 फीसदी लोगों की आय प्रतिव्यक्ति 20 रुपये रोज, यानी 600 रुपये प्रतिमाह है। उसकी तुलना में तो इस परिवार की आय दुगुने से भी ज्यादा है। यह सब अकल चकरा देने वाली बातें हैं। देश में गरीबी का अन्दाजा लगाइये।

योजना आयोग ने कहा— गाँव में 26 और शहर में 32 रुपए से ज्यादा खर्च करने वाले गरीब नहीं हैं।

अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी ने कहा— 80 करोड़ देशवासी 20 रुपये रोज पर गुजर-बसर करते हैं।

दोनों सही हैं तो देश में गरीबों की कुल संख्या का अंदाजा लगाइए। 80 करोड़? 90 करोड़? 100 करोड़?

आँकड़े निर्मम होते हैं।

आँकड़ों से खिलवाड़ करने वाले जालिम होते हैं।

डॉ. कलाम, आपका लेख जितने जवाब नहीं देता, उससे ज्यादा सवाल खड़ा करता है

(नाभिकीय ऊर्जा पूरी दुनिया में विनाश का पर्याय बन गयी है। अमरीका का श्री माइल्स वैली, रूस का चेर्नोबिल और अभी हाल ही में जापान के फुकुशिमा ने बार-बार यह चेतावनी दी है कि नाभिकीय ऊर्जा मानवता के लिए अत्यन्त घातक है। इससे निकलने वाले विकिरण का प्रभाव मौजूदा पीढ़ी को ही नहीं बल्कि आने वाली असंख्य बेगुनाह पीढ़ियों को अपंग बनाता रहता है। यह बात जगजाहिर है।

पिछले कुछ वर्षों से हमारे देश के शासक इन सच्चाइयों की अनदेखी करते हुए नाभिकीय ऊर्जा को हर कीमत पर बढ़ावा दे रहे हैं। संसद में “नोट के बदले वोट” का खेल खेलकर भी अमरीका के साथ नाभिकीय समझौते को अन्तिम रूप दिया गया। जैतापुर और कुड़ानकुलम में वहाँ के स्थानीय लोगों द्वारा प्रबल विरोध के बावजूद हर कीमत पर नाभिकीय संयंत्र लगाया जा रहा है।

पिछले कुछ दिनों से पूर्व-राष्ट्रपति श्री अब्दुल कलाम कुड़ानकुलम नाभिकीय प्लांट के पक्ष में अभियान चला रहे हैं। आसपास की जनता लंबे अरसे से इस विनाशकारी परियोजना का विरोध कर रही है। श्री कलाम ने आसपास के गावों के लिए 200 करोड़ रुपये की एक विकास योजना भी प्रस्तावित की है, जिसका अभिप्राय समझना कठिन नहीं। इस सन्दर्भ में भारत सरकार के पूर्व ऊर्जा सचिव और योजना आयोग के पूर्व ऊर्जा सलाहकार श्री ई.ए.एस. शर्मा का श्री कलाम के नाम यह खुला पत्र। सं.)

भारत के पूर्व राष्ट्रपति श्री अब्दुल कलाम के नाम पत्र

प्रेषक :

डॉ. ई. एस. शर्मा

पूर्व सचिव (विद्युत), भारत सरकार

पूर्व सलाहकार (ऊर्जा), योजना आयोग

प्रिय श्री अब्दुल कलाम,

मैं नाभिकीय शक्ति पर द हिन्दू में प्रकाशित आपके अति-आश्वस्तकारी लेख की तरफ ध्यान दिलाना चाहता हूँ। मैं समझता हूँ कि आप कुड़ानकुलम के लोगों को इस बात के लिए आश्वस्त करने की हद तक चले गये कि नाभिकीय ऊर्जा “100 प्रतिशत सुरक्षित है”। मैं आँकड़ों की जानकारी के मामले में बहुत ही अनाड़ी हूँ, फिर भी मुझे आश्चर्य है कि कोई व्यक्ति इतना प्रशंसात्मक दावा कैसे कर सकता है, विशेषतया तब जबकि तकनोलॉजी से थोड़ा भी परिचित व्यक्ति इस तरह के दावे करने से हिचकेगा!

मैं श्रीकाकुलम, आंध्र प्रदेश का रहने वाला हूँ। मेरे निवास के बहुत ही नजदीक, कोव्वाडा में न्यूक्लियर पावर कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड (एनपीसीआईएल)

ने नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र का एक बहुत बड़ा कॉम्प्लेक्स लगाने का प्रस्ताव रखा है। नाभिकीय ऊर्जा कि सुरक्षा को लेकर मेरी गंभीर आशंकाएँ हैं। अब जबकि यह मेरे घर के पिछवाड़े ही लगाने जा रहा है, मेरी आशंकाएँ कई गुना बढ़ गयी हैं। जो व्यक्ति ऐसी तकनोलॉजी का शिकार होने वालों में शामिल हो उसके मन में ऐसी आशंकाएँ होना स्वाभाविक है, भले ही कहीं दूर बैठकर लेख लिखने वाले व्यक्ति को, ऐसी आशंकाएँ किसी “हास्य-विनोद की किताबी कल्पना” जैसी लगती हों।

मैं समझता हूँ कि एनपीसीआईएल ने नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र के स्थान के चारों ओर बसे लोगों को चेतावनी देने के लिए उस संयंत्र के इर्द-गिर्द एक जोनिंग प्रणाली स्थापित की है। मैं समझता हूँ कि, “वर्जित क्षेत्र”, “विकिरण मुक्त किया गया क्षेत्र” और “आपातकालीन जाँच-पड़ताल क्षेत्र” उस संयंत्र के घेरे से 16 किलोमीटर दूर तक फैला हुआ है। श्रीकाकुलम मे रह रहे मेरे परिवार को अभी तक यह सब नहीं बताया गया है। शायद, प्रभावित होने वाले सिरे पर स्थित लोगों को इसकी सूचना देने से पहले ही एनपीसीआईएल

संयंत्र के पूरा हो जाने कि प्रतीक्षा कर रहा है। आपका लेख निश्चय ही इस बात पर कूटनीतिक चुप्पी साधे हुए है। शायद एनपीसीआईएल ऐसे तुच्छ तथ्यों को तूल देना नहीं चाहता हो!

आपकी प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए, मैंने आपके लेख को बहुत ही सावधानी से पढ़कर यह समझने की कोशिश की कि कोव्वाडा "नाभिकीय पार्क" के बिलकुल नजदीक रहने वाला खुद मैं, कितना सुरक्षित रह पाऊँगा। एनपीसीआईएल ने इस संयंत्र को "स्वच्छ" और "हरित" दिखाने के लिए उसे कितना खूबसूरत नाम दिया है— "नाभिकीय पार्क"।

एक स्थान पर, आपने निम्नलिखित दावा करने कि कृपा की है। **"नाभिकीय बहस के इर्द-गिर्द एक अन्य दलील यह है कि नाभिकीय दुर्घटना और उसके बाद होने वाला विकिरण केवल उसकी चपेट में आनेवाली पीढ़ी को ही नुकसान नहीं पहुँचायेगा, बल्कि आनेवाली पीढ़ियों पर भी अपना घातक प्रभाव डालता रहेगा। अगर केवल अटकलबाजी और हास्य-विनोद की किताबी कल्पना की तुलना में उपलब्ध तथ्यों और वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल को ज्यादा महत्त्व दिया जाय तो, यह दलील हर तरह से एक मिथक साबित होगी।"**

इस तरह का बयान देने से पहले निश्चित तौर पर आपने इस विषय पर उपलब्ध वैज्ञानिक साहित्य के सारे स्रोतों की छानबीन की होगी। मुझे यकीन है कि आपने ऐसा जरूर किया होगा। मैं आपकी इस बात से सहमत हूँ कि अनुभव और अटकलबाजी की तुलना में वैज्ञानिक जाँच-परख को ज्यादा महत्त्व दिया जाना चाहिए। लेख का एक-एक वाक्य पढ़ने के बाद मैं निम्नलिखित चिंताओं का निवारण करने में असमर्थ रहा हूँ, जो अब भी मेरे दिमाग को मथ रही हैं।

1—आपने नाभिकीय तकनोलॉजी कि सुरक्षा से जुड़े मसलों को महज अटकलबाजी कहते हुए दरकिनार कर दिया। लेकिन क्या आपने नाभिकीय संस्थाओं से यह पूछने का प्रयत्न किया कि एनपीसीआईएल ने हरेक मौजूदा नाभिकीय संयंत्र के भीतर किसी खास अवयव में खराबी आने के चलते यांत्रिकी की गड़बड़ी से होने वाली दुर्घटना की जटिल सम्भावना का अनुमान लगाने

के लिए कभी अभियांत्रिकी सम्बन्धी विश्वस्त अध्ययन कराया? यदि ऐसा नहीं हुआ, तो क्या आप केवल कुछ एक दुर्घटनाओं के अपने मूल्यांकन के आधार पर, जो पिछले कुछ दशकों में घटित हुई हैं, इस निष्कर्ष तक छलांग लगा सकते हैं कि दुर्घटना होने कि संभावना नगण्य है?

क्या इस तरह के निष्कर्ष जो अत्यन्त कृत्रिम नमूने पर आधारित हैं और सांख्यिकी के लिहाज से कमजोर हैं भ्रामक अनुमान की ओर नहीं ले जाते?

3—आपने कृतज्ञतापूर्वक यह स्वीकार किया है कि विकिरण से प्रभावित होने और कैंसर के खतरे में कुछ सह-सम्बन्ध है। फिर भी आपने रेडीयोएक्टिविटी के दूरगामी हानिकारक प्रभावों की सम्भावना, विशेषकर मानव कोशिकाओं पर इसके दुष्प्रभाव को कम करके आँका है। क्या संयोगवश आपने इस विषय पर उपलब्ध वैज्ञानिक साहित्य कि विस्तृत जाँच-पड़ताल की? क्या आप पूरे आत्म-विश्वास से इस तथ्य को नकार सकते हैं कि लघु-तीव्रता और उच्च-तीव्रता के विकिरण का मानव स्वास्थ्य पर सम्भावित प्रभाव, अनुवांशिकी प्रभाव सहित, के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान में भारी अंतर है? लघु-तीव्रता तक के विकिरण का भी मानव कोशिकाओं पर सम्भावित खतरे के एक उदाहरण के तौर पर मैंने एक लेख संलग्न किया है जो कुछ दिनों पहले 'द हिन्दू' में उसी तरह छपा था, जिस तरह आपका यह लेख इस प्रतिष्ठित समाचार-पत्र में छपा था। मुझे उम्मीद है कि आपने स्वास्थ्य पर विकिरण के प्रभाव के बारे में दावे के साथ कहने से पहले वैज्ञानिक साहित्य का सावधानी से अध्ययन किया होगा।

3—नाभिकीय तकनोलॉजी के सकारात्मक पहलुओं पर वाक्पटुता के बावजूद आपने इसके नकारात्मक पहलुओं की पूरी तरह अनदेखी की है। मैं इसके कारणों को समझ सकता हूँ। तकनोलॉजी के अनेक मामलों में, तकनोलॉजी संस्थाएँ, अपनी तकनोलॉजी को आगे बढ़ाने की बेचौनी में, कीमतों का कम, लेकिन फायदों का अधिक आंकलन करती है। लोक-नीति के मामले में किसी भी व्यक्ति को अनिवार्य रूप से इसके प्रति हमेशा सतर्क रहना चाहिए।

4—क्या आपने अब तक बन्द हुए किसी नाभिकीय

ऊर्जा संयंत्र के आधार पर यह अनुमान लगाने का प्रयत्न किया कि किसी नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र को बंद करने की क्या कीमत चुकानी पड़ सकती है? आपने "अवसर लागत" के बारे में तो बताया है, लेकिन क्या आपने लम्बे समय तक संचित होने वाले रेडीयोएक्टिव कचरे के प्रबंधन की लागत का भी आंकलन का प्रयास किया? क्या आप जानते हैं कि इसकी लागत कितनी अधिक होगी, यह आंकलन करना बहुत ही मुश्किल है? चेर्नोबिल को बन्द करने की कीमत का आंकलन कभी नहीं हो पायेगा, क्योंकि उसे कभी भी बन्द नहीं किया जा सकेगा। रूस सरकार दूषित चेर्नोबिल रिएक्टर के चारों तरफ विदेशी वित्तीय सहायता से पत्थर का एक विराट ताबूत बना रही है! फुकुशिमा की क्या कीमत चुकानी पड़ी, आज तक किसी को नहीं पता।

5—आपने ऊर्जा और अर्थव्यवस्था के बीच के सम्बन्धों कि बात कही है। इस मामले में आपके विवेक पर सवाल खड़ा करने में मुझे हिचकिचाहट हो रही है। हालाँकि मैं सुनिश्चित नहीं हूँ कि आप ऊर्जा और आर्थिक विकास के ऊपर कुशलता सुधार, माँग प्रबंधन और दूसरे उपायों के प्रभाव से अवगत हैं या नहीं। मुझे उम्मीद है कि इस विषय पर आपने इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ साइन्स के प्रो. अमूल्य रेड्डी से, जब वे जीवित थे, आपको इस विषय पर बातचीत का अवसर मिला होगा। मैं अपने पूरे सामर्थ्य से आपको पेंगुइन प्रकाशन के लेखक एमोरी बी. लोविस की किताब "सॉफ्ट इनर्जी पाथ्स : टुवार्ड्स ए ड्यूरेबल पीस" पढ़ने की सलाह देता हूँ। इस विचारोत्तेजक किताब को पढ़कर बहुत लाभान्वित हुआ हूँ।

श्री कलाम, इस पत्र को लिखने का मेरा मकसद किसी भी तरीके से आपके लेख में खोट निकालना नहीं, बल्कि अपनी सच्ची मानवीय चिंताओं को प्रकट करना है। आप एक विद्वान लेखक हैं। लेकिन मेरी जगह बैठे किसी व्यक्ति के लिए या मौजूदा नाभिकीय ऊर्जा संयंत्र के आसपास बसे लोगों के लिए जो बात महत्वपूर्ण है, वह पूर्वकल्पित धारणा पर आधारित लेख नहीं, बल्कि वैज्ञानिक प्रमाणों पर आधारित तर्क है। मैं भयभीत हूँ कि आपका लेख जितने जवाब नहीं देता, उससे ज्यादा सवाल खड़े करता है।

सादर,
आपका,
ई.एस. शर्मा
विशाखापत्तनम

6.11.11

सावधान

जब वे आते हैं
और कहते हैं
हम खुशियाँ लायेंगे
तुम्हारी थकी हुई और उदास जिन्दगियों में

वे झूठ बोलते होते हैं
उनकी भाषा की नरमी में
एक तानाशाह छुपा होता है

तुम्हारी खुशियों से उन्हें क्या लेना—देना
मक्कारी जिनकी नस—नस में भरी है
वे अपने में ही जीते हैं
गुबरैले कीड़े की तरह
वे अपने अहम को ढोते फिरते हैं

सावधान ! वे तुम्हारी शेष बची हुई खुशियों को
छीनने आये हैं
वे जीते ही छीना झपटी पर हैं
वे जीवित ही हम पर हैं
वे हमें क्या देंगे

पृथ्वी के चप्पे—चप्पे पर तुम्हारा परिश्रम चरप्पा है
सौन्दर्य तुम्हारी कड़ी मेहनत का परिणाम है
ये सड़कें ये भवन ये खेत
सब तुम्हारे हैं
तुम्हारे ही भाइयों ने बनाई है
ये मोटरें ये जहाज और वह सब कुछ
जिससे तुम वंचित रखे गये हो

वे कौन होते हैं देने वाले
वे मक्कार तुम्हें क्या देंगे।

—उमेश डोभाल

वॉल स्ट्रीट पर कब्जा आन्दोलन

राजेश

वॉल स्ट्रीट पर कब्जा आन्दोलन उदारीकरण, निजीकरण की नीतियाँ थोपकर दुनिया भर की जनता को तबाह करने वाले विश्व पूँजीवाद के गढ़ पर हमला है। यह 99 प्रतिशत जनता की ओर से मुनाफे के भूखे भेड़ियों— 1 प्रतिशत पूँजीपतियों और सट्टेबाजों को सीधी चुनौती है। मुक्त व्यापार की नीतियों, विश्वव्यापी मंदी, बेरोजगारी और महँगाई के खिलाफ दुनिया की मेहनतकश जनता व्यापक विरोध के लिए सड़कों पर उतर रही है।

आन्दोलन के पहले दिन, 17 सितम्बर को लगभग 1000 लोग वॉल स्ट्रीट के नजदीक जुकोटी पार्क में विरोध प्रदर्शन के लिए एकत्रित हुए। न्यूयार्क पुलिस विभाग ने प्रदर्शनकारियों की गिरफ्तारियाँ और दमन शुरू कर दिया। 24 सितम्बर तक कम से कम 80 गिरफ्तारियाँ हुईं। पुलिस ने भीड़ को तितर-बितर करने के लिए उन्हें नारंगी रंग के जाल में फँसा कर उनकी आँखों में लाल मिर्च का पाउडर झाँका गया। प्रदर्शनकारी जमीन पर पड़े घंटों तड़पते रहे। पुलिस का कहना था कि उनके पास मार्च करने का आदेश पत्र नहीं था। यह उस अमरीका की कहानी है जो दुनिया भर में लोकतंत्र बहाली के नाम पर अपनी फौजी कार्रवाईयों को अंजाम देता है।

1 अक्टूबर 2011 को आंदोलनकारियों ने बुल्किन ब्रिज से मार्च करने का फैसला किया। इस दिन 700 से ज्यादा गिरफ्तारियाँ हुईं। चूंकि यह आन्दोलन लुटेरी सटोरिया पूँजी और कॉरपोरेट जगत के खिलाफ है, इसलिए इसे साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी से तबाह दुनिया भर की जनता का समर्थन मिल रहा है। 15 अक्टूबर तक यह आन्दोलन 80 देशों के 197 शहरों में फैल गया। 'वॉल स्ट्रीट पर कब्जा करो' से आगे बढ़कर अब यह 'टोक्यो', 'लन्दन', 'बॉन', 'पेरिस' और दुनिया भर की राजधानियों पर 'कब्जा करो' आन्दोलन का रूप ले चुका है। वित्तीय पूँजी कि अट्टालिकाओं के खम्बे डगमगा रहे हैं और पूँजी के गुम्बद काँपने लगे हैं।

आज पूरी दुनिया एक अभूतपूर्व असाध्य संकट की गिरफ्त में है। 2007—08 में अमरीकी घरेलु कर्ज के बुलबुले

के फटने और वहाँ का वित्तीय ढाँचा चरमराने के बाद से यह संकट एक—एक कर दुनिया की सभी अर्थव्यवस्थाओं को अपनी चपेट में लेता गया। दुनिया भर कि पूँजीपरस्त सरकारों ने बेहिसाब पैसा झाँककर अपने—अपने वित्तीय क्षेत्र को उबारने का प्रयास किया, लेकिन समस्या दिनोंदिन गहराती गयी। शेयर बाजार, बैंक और वित्तीय कम्पनियों से शुरू हुआ यह संकट आज उत्पादक अर्थव्यवस्था (उद्योग और कृषि) सहित आर्थिक जीवन के कोने—कोने में पसर चुका है। किसी ने ठीक ही कहा है— "आज वैश्विक मंदी तेजाब की बारिश बनकर इंसानों के जिस्म को गला रही है।"

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का चौधरी अमरीका आज पूँजीवाद की सहजात बीमारी— ठहराव, मंदी और शेयर बाजार के भंवर में फँसा हुआ है। पितृहंता सटोरिया पूँजी अब अपने ही जनक का कत्ल करने पर अमादा है। शेयर बाजार और वित्तीय निगमों में मुट्टी भर लोगों का वर्चस्व होता है। इन तानाशाहों का मुख्य उद्देश्य अपने निगमों के लिए हर कीमत पर ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना होता है। इसके लिए वे किसी कानून की परवाह नहीं करते। निजी मुनाफे के आगे उन्हें पूरी धरती का विनाश और करोड़ों लोगों की तबाही और बदहाली से भी कोई गुरेज नहीं। "वॉल स्ट्रीट पर कब्जा करो" आन्दोलन लोभ—लालच और मुनाफे के खिलाफ एक बगावत कि शुरुआत है।

समकालीन 'अन्ना आन्दोलन' से तुलना

अगस्त के अंत में अन्ना कि अगुआई में हुई 'आजादी की दूसरी लड़ाई' में अधूरी जीत का विजयोल्लास अभी थमा भी नहीं था कि न्यूयॉर्क में कॉरपोरेट घरानों और पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ 'वॉलस्ट्रीट पर कब्जा करो' का नारा गूँज उठा। दोनों आंदोलनों को एक समान बताते हुए अन्ना समर्थक अपनी पीठ थपथपाने लगे, हालाँकि इस पर अन्ना टीम ने अपनी कोई राय नहीं दी। क्या सचमुच दोनों में को मेल है?

अन्ना आन्दोलन भ्रष्टाचार के भूत का विरोधी था जो कि अंत समय तक अपना निशाना तय करने से कतराता रहा। अन्ना समर्थकों को लगा कि शायद यह लड़ाई सरकार के खिलाफ है, लेकिन दिल्ली सरकार द्वारा अन्ना टीम की मेहमाननवाजी और अन्ना के इस बयान ने कि "हम किसी राजनीतिक पार्टी या सरकार के विरोधी नहीं हैं।" इसे खारिज कर दिया। आज तक इस रहस्य से पर्दा नहीं उठ पाया कि दरअसल अन्ना टीम के विरोधी और समर्थक कौन हैं? पैतरे बदल रहे हैं, आरोप-प्रत्यारोप जारी हैं। लेकिन इतना तो साफ है कि अन्ना टीम का विरोध भ्रष्टाचार को जन्म देने वाली इस व्यवस्था के खिलाफ नहीं है। उल्टे कॉरपोरेट घरानों, मीडिया और एनजीओ को उसने जान बूझकर अपना लक्ष्य नहीं बनाया है, वॉल स्ट्रीट पर कब्जा आन्दोलन ने स्पष्टतः कॉरपोरेट घराने और पूँजीवाद को अपना निशाना बनाया है।

अन्ना टीम की माँग केवल लोकपाल पद के सृजन तक सीमित रही। एक सुधारवादी, व्यवस्थापोषक, एनजीओवादी आन्दोलन का नेतृत्व इसके आगे सोच भी नहीं सकता। भ्रष्टाचार की जड़ खोजने के बजाय अन्ना टीम डाल-डाल और पात-पात में उलझी रही। वॉल स्ट्रीट पर कब्जा आन्दोलन केवल भ्रष्टाचार ही नहीं, बल्कि महँगाई, बेरोजगारी, भुखमरी और कंगाली जैसी तमाम समस्याओं की जड़, इस पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ है। उसका नारा है—बाजारवाद, नवउदारवादी पूँजीवाद, परजीवी सटोरिया पूँजीवाद, अल्पतंत्री पूँजीवाद का नाश हो! यह नारा एक व्यापक और गहरी सोच को दर्शाता है।

अन्ना टीम अपना समर्थन सिविल सोसाइटी (भद्रलोक) के घेरे से बाहर नहीं फैला पायी। भ्रष्टाचार जैसे मुद्दे पर इस घेरे को फैलाना सम्भव भी नहीं था, क्योंकि मेहनतकश जनता भ्रष्टाचार से ज्यादा बेरोजगारी, भुखमरी और तमाम तरह के भेदभाव से परेशान है। यह सब अन्ना आन्दोलन के एजेंडे में दूर-दूर तक नहीं है। वॉल स्ट्रीट के एक ही नारे ने पक्ष और विपक्ष, समर्थक और विरोधी के बीच सीधी विभाजक रेखा खींच दी, हम 99 प्रतिशत लोग 1 प्रतिशत परजीवियों के शिकार हैं।

जनलोकपाल आन्दोलन ने सब कुछ अन्ना टीम को करना है, बाकी लोगों को पीछे-पीछे ताली बजानी है।

जनता की पहलकदमी और सृजनशीलता के लिए वहाँ कोई जगह नहीं है। अन्ना आन्दोलन के नारे इसकी गवाही देते हैं। "इन्दिरा इज इंडिया, इंडिया इज इन्दिरा" की तर्ज पर "अन्ना इज इंडिया, इंडिया इज अन्ना" या "अन्ना की जय", मैं अन्ना हूँ" मानो वे कोई अवतार, उद्धारक या मसीहा हों। वॉल स्ट्रीट में शामिल लोगों कि रचनात्मकता लाजवाब है। उनके पोस्टर, प्लेकार्ड, नारे और आन्दोलन के नए-नए तरीके जनता की असीम कल्पनाशक्ति और सृजनशीलता के का परिचायक है। इस स्वतःस्फूर्तता में जो स्फूर्ती है, वह घिसे-पिटे प्रायोजित कार्यक्रमों में ढूँढने से भी नहीं मिलती।

वैश्वीकरण और वाशिंगटन आम सहमति की नीतियों के चलते अमरीका ने पूरी दुनिया में ही नहीं बल्कि अपने देश में भी जनता को तबाही के जिस गर्त में पहुँचाया है उसके चलते वहाँ के लोग बगावत के रास्ते पर उतरे हैं। भारत में इन नीतियों का दुष्परिणाम और भी भयावह रूप में सामने आया है। लेकिन अन्ना टीम का अपने देश के वंचितों की बुनियादी समस्याओं से कोई लेना देना नहीं। नवउदारवाद के लाभार्थी ही अन्ना आन्दोलन की मुख्य ताकत रहे हैं। इस मीडिया-प्रेरित, उत्सवधर्मी, निरापद आन्दोलन में मुख्य रूप से ऐसे ही लोग शामिल थे। वॉल स्ट्रीट पर कब्जा आन्दोलन शांतिपूर्ण है, फिर भी अमरीकी वंचित समुदाय को पुलिस की बर्बरता का शिकार बनाया जा रहा है। जबकि दिल्ली पुलिस अन्ना की वीआईपी जनता की सुरक्षा में मुस्तैद रही। दुनिया के विभिन्न शहरों में हो रहे प्रदर्शनों से जाहिर है कि शोषित-पीड़ित जनता अँगड़ाई लेकर जागी है लेकिन आज के शांतिर दौर में एक मजबूत संगठन के बिना यह आन्दोलन कितने दिन कायम रहेगा कहना मुश्किल है। जो भी हो, ये उभार दुनिया को आगे ले जायेगा।

आंदोलनकारियों का शांतिपूर्ण प्रदर्शन भी अमरीकी मीडिया और आर्थिक टीकाकारों को हजम नहीं हुआ। द न्यू अमरीका ने लिखा— "हमारी पूँजीवादी व्यवस्था को गिराने के लिए उग्र अमरीकी एक साथ सैकड़ों जगह हिंसात्मक कार्यवाहियों की योजना बना रहे हैं, मैं उनकी बात कर रहा हूँ जो देश में पूँजीपतियों के खिलाफ आतंकवादी कार्यवाही में लगे हैं।"

न्यूयार्क डेली न्यूज के एक लेख में कहा गया कि "विरोध करने वाली भीड़" "सड़ियल और बिगडैल छोकरोँ का झुण्ड" है। बोस्टन ग्लोब ने लिखा कि "इस विरोध प्रदर्शन को गम्भीरता से लेने की जरूरत नहीं है, जो एक सर्कस की तरह लगता है। यह कनाडा की एक पत्रिका और कम्प्युटर हैकरों के समूह द्वारा उकसाया जा रहा है।" मदर जोन मैगजीन ने 27 सितम्बर के लेख में कहा— "आन्दोलन कोई स्पष्ट सन्देश देने में असमर्थ है जो इसे आगे ले जाने में सहायक हो और "आन्दोलन अमरीका की व्यापक भीड़ को साथ लेने में समर्थ नहीं है।"

पूरी दुनिया जानती है कि वॉल स्ट्रीट पर कब्जा आन्दोलन ने अपना सन्देश बिलकुल स्पष्ट रूप से दिया है— लुटेरे पूँजीवादी अल्पतंत्र का नाश हो। लेकिन कॉरपोरेट मीडिया आन्दोलन के शंखनाद और दीवार पर लिखी इबारत को लगातार नजरंदाज करता जा रहा है। व्यवस्थापोषित अमरीकी मीडिया की बौखलाहट से यह स्पष्ट है कि इस आन्दोलन के प्रति उनका रुख क्या है?

आन्दोलन से सबक

यह सच है कि 'वॉल स्ट्रीट पर कब्जा' आन्दोलन में प्रतिबद्ध और अनुभवी कार्यकर्ताओं की कमी है। शैशवावस्था के तोतलेपन और किलकारियों पर मंत्र मुग्ध हो जाना लाजिमी है। लेकिन उसे प्रौढ़ होने और उसे आगे की लड़ाई के योग्य बनाने के लिए मजबूत पार्टी का निर्माण और उसके लिए लड़ने मरने के लिए तैयार प्रतिबद्ध कार्यकर्ताओं की जरूरत पड़ेगी। इसके अभाव में सम्भावना यही है कि यह आन्दोलन पिट—पिटाकर या सुधारवाद की गलियों में भटककर खो जायेगा। लेकिन यह भी सम्भव है कि आन्दोलन में शामिल जनता अपनी गलतियों और कमजोरियों का सार—संकलन करते हुए सही दिशा में अपने कदम बढ़ाए। अमेरिका की 90 प्रतिशत जनता और पूरी दुनिया की जनता के दिलों में अमरीकी राजसत्ता की दरिन्दगी के खिलाफ जो लावा जमा हुआ है वह देर—सवेर उसे खाक में मिला देगा यह तय है। कब? यह समय की बात है।

आज का नायक धीरू भाई अंबानी?

देश के एक बड़े पूँजीपति बिड़ला समूह के अखबार 'हिन्दुस्तान' के देहरादून संस्करण में प्रकाशित एक लेख— बनना चाहते हैं अंबानी, तो वैसे ही सोचें।

धीरू भाई अंबानी कौन थे?

ज्यादा दिन नहीं हुए जब ऐसी खबरें प्रकाशित हुआ करती थीं कि किस तरह धीरू भाई अंबानी ने सरकार के सभी कानूनों को ताक पर रख कर, दिल्ली में मंत्रियों, नौकरशाहों की जेब गरम की और दौलत बनाने के लिए वे सभी रास्ते अख्तियार किये जो एक धूर्त और बेईमान व्यक्ति कर सकता है। अंबानी को इस रास्ते से अप्रत्याशित सफलता मिली और 5 हजार डॉलर से व्यापार शुरू करके वे देश के बड़े पूँजीपतियों में शामिल हो गये। देश के सभी भ्रष्टाचारियों, शोषकों और लुटेरों ने उनका स्वागत किया। अखबारों ने उनके छल—प्रपंच से प्राप्त धन को प्रतिष्ठित किया और देखते ही देखते एक शातिर और बदनाम व्यक्ति देश का प्रतिष्ठित पूँजीपति बन गया।

ये सारी बातें जग जाहिर हैं।

आज बिड़ला का अखबार उनके इस नये वर्ग—अनुज को देश का आदर्श पुरुष और नायक बना कर युवा पीढ़ी के आगे परोस रहा है।

वैश्विक मंदी : वित्तीय पूँजी की लाइलाज बीमारी

विक्रम प्रताप

वैश्विक मंदी का भूचाल दुनिया भर की अर्थव्यवस्थाओं को डौंवाडोल कर रहा है। अगस्त के पहले हफ्ते में आर्थिक संकट का झटका दुनिया भर में महसूस किया जब मूडी और स्टैण्डर्ड एण्ड पुअर जैसी रेटिंग एजेन्सियों ने अमरीकी फेडरल रिजर्व बैंक की क्रेडिट रेटिंग घटा दी। डॉलर की तुलना में यूरो की कीमत में तेजी से गिरावट आने के चलते यूरोपीय अर्थव्यवस्थाओं की हालत खस्ता हो गयी। अमरीका और यूरोप के केन्द्रीय बैंकों ने बाजार में डॉलर झोंका, तब जाकर कुछ राहत मिली। लेकिन इसके बावजूद एक ओर ग्रीस दिवालिया होने की कगार पर है, जबकि इटली और स्पेन जैसी बड़ी अर्थव्यवस्थाएँ भी कर्ज संकट की गिरपत में हैं। पिछले साल जब ग्रीस कर्ज संकट का शिकार हुआ तो यूरोपीय संघ उसके बचाव में आगे आया था। लेकिन यह संकट चूँकि आज पूरे यूरोप में छाया हुआ है, इसलिए जब ग्रीस दुबारा संकट के भँवर में फँसा तो यूरोपीय संघ के देश उसे डूबता छोड़ खुद को बचाने के लिए हाथ-पाँव मार रहे हैं। जाहिर है कि मुसीबत के समय लुटेरों की आपसी एकता टूट जाती है। सरकारी खर्चों में कटौती करने और दिवालिया हो जाने के अलावा ग्रीस के पास कोई दूसरा रास्ता नहीं बचा। उसके संकटग्रस्त होते ही समूचे यूरोप के बैंकों में खलबली मच गयी। विदेशी पूँजी निवेशक ग्रीस ही नहीं, बल्कि संकट में फँसी इटली और स्पेन की विराट अर्थव्यवस्थाओं को भी असहाय छोड़कर भागने लगे।

अमरीका में आर्थिक संकट का बोझ मेहनतकशों पर लादने का चौतरफा असर दिखने लगा है। पिछले तीन महीनों से वहाँ बेरोजगारी दर 9.1 प्रतिशत से ऊपर बनी हुई है। एक रिपोर्ट के मुताबिक आज अमरीकी जनता पिछले 52 वर्षों में सबसे विकट गरीबी झेल रही है।

पूँजीवादी दुनिया एक तरफ वॉलस्ट्रीट पर कब्जा आन्दोलन के लगातार तीव्र होते प्रहारों और दूसरी ओर

बहुराष्ट्रीय निगमों और साम्राज्यवादी सरकारों की बौखलाहट से रू-ब-रू है। वैश्विक मंदी के झटकों ने पूँजी के इन पहरेदारों की पोल खोल दी जो बाजार और सट्टेबाजी को बेलगाम करने में ही पूँजीवाद के संकट का अन्तिम हल ढूँढ रहे थे। संकट का हर इलाज रोग को बढ़ाता जा रहा है। एक तरफ कुआँ है, तो दूसरी तरफ खाई। यूरोजोन का वित्तीय कर्ज संकट, अमरीका का सम्प्रभु कर्ज संकट, ऊँची आय वाले देशों के वित्तीय स्थायित्व पर खतरा, असमान और सुस्त वैश्विक वृद्धि दर, विकासशील देशों में मुनाफे में गिरावट, उभरती अर्थव्यवस्थाओं में बेलगाम मुद्रास्फीति और अर्थव्यवस्थाओं का सिकुड़ते जाना, पर्यावरण और प्राकृतिक संकटों का लगातार गहराते जाना तथा इन सभी संकटों से उत्पन्न सामाजिक-राजनीतिक संकट आज पूरी दुनिया को उथल-पुथल की ओर ले जा रहा है।

अमरीकी व्यवस्था सन् 2002 के डॉट कॉम त्रासदी के बाद से ही लगातार मन्दी की चपेट में है, अमरीकी साम्राज्यवादी अब तक खींच-तान कर व्यवस्था को चला रहे हैं, लेकिन 2008 की बन्धक पत्र त्रासदी शुरु हुई मंदी अब नासूर बन चुकी है। उस समय कर्ज पर उठाये गये मकानों के बन्धक पत्रों को बैंकों ने बाजार में उतारा था, जिससे सट्टेबाजों ने फर्जी तरीके से अपनी सम्पत्ति खूब बढ़ा ली। लेकिन जैसे ही इस जुएबाजी का खुमार उतरा, अमरीकी व्यवस्था फिर मंदी के भँवर में फँस गयी। साम्राज्यवादी नीम हकीमों ने उसी दौरान मंदी से लड़ने के लिए कुछ सतही समाधान बताये थे, जैसे- विलासिता के सामानों की माँग बढ़ाने के लिए उच्च वर्ग की आमदनी बढ़ाना, सोने और तेल के दामों में बढ़ोत्तरी, वित्तीय जाँकों के नुकसान का राष्ट्रीयकरण, बाजार की मौद्रिक तरलता में वृद्धि, वित्तीय जाँकों की नाक में नकेल और सभी देशों की सम्प्रभु सम्पत्ति कोष का उपयोग। हालाँकि दूरदर्शी

अर्थशास्त्रियों ने आगाह किया था कि ये उपाय कारगर नहीं होंगे, क्योंकि यह मंदी व्यवस्था का संरचनागत संकट है, जिसका समाधान इस व्यवस्था के अन्त के साथ ही सम्भव है।

अमरीका का कर्ज सीलिंग संकट

दूसरे विश्व युद्ध के बाद अमरीकी अर्थव्यवस्था यूरोप के पुराने उपनिवेशवादी देशों को पीछे छोड़ते हुए विश्व पूँजीवाद की अगली कतार में आ गयी थी। वियतनाम युद्ध में पराजित होने के बाद अमरीका का पराभव शुरू हुआ। 1970 में सोने के साथ डॉलर की परिवर्तनीयता समाप्त करना इसका एक सूचक था। तभी से उसने अपने ढाँचागत आर्थिक संकट से निपटने के लिए एक के बाद एक कृत्रिम उपाय किये। वास्तविक उत्पादक अर्थव्यवस्था के ऊपर परजीवी वित्तीय पूँजी को बढ़ावा देना ऐसा ही एक उपाय था। साथ ही 1970 के बाद से ही अमरीका ने अपनी अर्थव्यवस्था को कर्ज का घी पिलाकर मोटा किया। आज अमरीका का सरकारी कर्ज 14,00,000 करोड़ डॉलर को पार कर गया है। यह राशि भारत के कुल सकल घरेलू उत्पाद के आठ गुने से भी ज्यादा है। अमरीकी कर्ज संकट के निम्नलिखित चार मुख्य कारण हैं।

1. सन 2000 से निगमों और अमीरों को टैक्स में भारी छूट दी गयी।
2. इराक और अफगानिस्तान युद्ध के कारण 4000 अरब डॉलर स्वाहा हो गया। इसके बावजूद अमरीका पाकिस्तान, लीबिया, सीरिया और ईरान सहित कई अन्य देशों से बैर मोल लेने से बाज नहीं आ रहा है।
3. 2008 के बाद वैश्विक मंदी में बर्बाद हुए बड़े निगमों, बैंकों, इन्श्योरेंस कम्पनियों और आर्थिक व्यवस्था को बचाने के लिए फेडरल बैंक द्वारा दी गयी बड़ी वित्तीय सहायता।
4. लगातार संकट के बावजूद कर्ज लेकर उपभोग के ऊँचे स्तर को बनाये रखना। आर्थिक संकट से बर्बाद हुए पूँजीपतियों पर अकूत सम्पदा लुटाकर उन्हें उबारने के कारण उसका सरकारी खजाना खाली हो चुका है।

अमरीकी व्यवस्था को चलाने के लिए अब और अधिक कर्ज की आवश्यकता है। कर्ज सीमा बढ़ाने की मंजूरी वहाँ की सीनेट देती है, जिसने फरवरी में इसे बढ़ा

कर 14,29,400 करोड़ डॉलर कर दी थी। इससे भी काम नहीं चला। पक्ष-विपक्ष के बीच इस मुद्दे पर काफी नोक-झोंक हुई, क्योंकि मार्च 2002 में ओबामा ने कर्ज सीमा बढ़ाने का विरोध करते हुए कहा था कि "सत्ता पक्ष का नेतृत्व (बुश) असफल हो चुका है।" लेकिन अब खुद ओबामा सरकार इस कर्ज सीमा को बढ़ाने के लिए आतुर हैं। पॉल क्रुगमैन जैसे अर्थशास्त्री और कई बड़े निवेशक कर्ज सीमा बढ़ाने और बजट घाटे के जरिये सरकारी समाज कल्याण के क्षेत्र में निवेश करने का सुझाव दे रहे हैं, ताकि लोगों की क्रय-शक्ति बढ़े तथा बेरोजगारी और आर्थिक संकट में कुछ कमी आये।

लेकिन इसके विपरीत अमरीकी सरकार सुधारों का जाप करते हुए समाज कल्याण के कामों में लगातार कटौती करती जा रही है। दूसरी ओर मंदी का बहाना बनाकर वहाँ के पूँजीपति कर्मचारियों की छँटनी में लगे हुए हैं। नतीजा यह है कि आज वहाँ काम करने की उम्र का हर छठा आदमी बेरोजगार है। लोग अपने सगे सम्बन्धियों या दोस्तों के रहमोकरम पर जिन्दा हैं और उनके मन में व्यवस्था के प्रति आक्रोश सुगलने लगा है। "वॉल स्ट्रीट पर कब्जा आन्दोलन" में जनता की व्यापक हिस्सेदारी इसी का नतीजा है।

आर्थिक मंदी और कर्ज संकट ने अमरीकी अर्थव्यवस्था को एक दुष्क्रम में फँसा दिया है। 1962 से अब तक अमरीका 74 बार कर्ज सीमा बढ़ा चुका है और उसकी आदत ऐसी हो गयी है कि वह केवल लेना जानता है, वापस करना नहीं। ऐसी स्थिति में यदि उसने फिर से कर्ज सीमा को बढ़ाया तो पूँजीवादी विश्व की चौधराहट की उसकी इज्जत पर बट्टा लग जायेगा। अमरीका आज अपने कुल खर्च का 40 प्रतिशत कर्ज लेकर पूरा करता है। कर्ज सीमा न बढ़ाये जाने पर उसका दिवाला पिट जायेगा और आर्थिक संकट और भी विकराल हो जायेगा। दूसरी ओर यदि अमरीकी बॉण्ड को दिवालिया होने के लिए छोड़ दिया गया तो फिर कोई निवेशक फेडरल बैंक के कर्ज बॉण्ड में शायद ही निवेश करे। इन्हीं अन्तर्विरोधों को हल करने को लेकर अमरीका की दोनों पार्टियों में सतही मतभेद मौजूद हैं। रिपब्लिकन चाहते हैं कि कर्ज की सीमा को बढ़ाकर खर्च कटौति तक लाया जाये। पहले दो सालों में बजट कटौती के जरिये कल्याणकारी कार्यों

में कमी की जाये, खर्च सीमा तय हो, बजट में सुधार हो और टैक्स में बढ़ोत्तरी न हो। डेमोक्रेट्स का मानना है कि खर्च में कटौती के बगैर ही कर्ज सीमा बढ़ायी जाये। बजट घाटे को कम करने के लिए कुछ सक्षम लोगों पर टैक्स बढ़ाया जाये और सामाजिक सुरक्षा, मेडिकल सुरक्षा में बड़ी कटौती को रोका जाये। आमतौर पर दोनों ही पूँजीपति वर्ग को बचाने के लिए संकट का सारा बोझ अमरीकी मेहनतकश वर्ग और तीसरी दुनिया के देशों पर थोप देना चाहते हैं। डेमोक्रेट पार्टी की योजनाएँ मेहनतकश वर्ग के हित में होने का भ्रम देती हैं, जबकि वास्तव में यह पूँजीवाद का दूरगामी हित सोचती हैं। समाधान इन दोनों में से किसी के पास नहीं है। वैश्विक संकट की विभीषिका के सामने दोनों ही किंकर्तव्यविमूढ़ हैं।

दोनों पार्टियों ने मिलकर बजट नियन्त्रण अधिनियम 2011 पास करवाया और कर्ज सीमा को तत्काल 400 अरब डॉलर बढ़ाने का निर्णय लिया। इसमें काँग्रेस के विरोध न करने पर इसमें 500 अरब डॉलर की अतिरिक्त वृद्धि और आने वाले 10 सालों में सरकारी बजट में 917 अरब डॉलर की कटौती का प्रावधान भी शामिल है। इन सभी उपायों की कीमत मेहनतकश वर्ग को चुकानी पड़ेगी, जबकि कर्ज संकट पर इनका कोई खास असर नहीं होगा। उल्लेखनीय है कि अमरीका का कुल कर्ज सकल घरेलू उत्पाद का 100 प्रतिशत से भी अधिक हो चुका है। 5000 अरब डॉलर के नये सिक्के ढलवाने या 8000 टन सोने को मुद्रा में बदलने या अपने कर्ज को वापस खरीदने जैसे जो भी उपाय सुझाये जा रहे हैं वे संकट को हल करने के बजाय और गहराने में ही मदद करेंगे।

ओबामा के “न्यूडील” की असफलता

राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 1930 की महामंदी के दौरान न्यूडील लागू करके अपनी अर्थव्यवस्था की नाव को डूबने से बचा लिया था। लेकिन ओबामा द्वारा इस दिशा में किये गये प्रयास की सफलता संदेह के घेरे में है। आखिर क्यों?

रूजवेल्ट द्वारा प्रस्तावित न्यूडील के दो प्रमुख उद्देश्य थे— पहला, पूँजीपतियों को बड़े नुकसान से बचाना व पूँजीवादी व्यवस्था के विध्वंस को रोकना और दूसरा, मजदूरों का ध्यान यूनियन की गतिविधियों और पूँजीवाद विरोधी आन्दोलनों से भटकाना। ‘न्यूडील’ के तहत पूँजीपतियों की मनमानी पर एक हद तक रोक लगायी गयी, बेरोजगारी भत्ता

दिया गया और 1.1 करोड़ बेरोजगारों को सीधे काम पर लगाया गया।

रूजवेल्ट ने सामाजिक कल्याण योजनाओं को चलाने के लिए पूँजीपतियों पर टैक्स बढ़ाने के बजाय उसे घाटे के बजट से पूरा किया। हालाँकि इससे राष्ट्रीय कर्ज बढ़ गया। साथ ही मंदी के चलते जो पूँजीपति लाभदायक निवेश नहीं कर सकते थे, उन्हें फेडरल बैंक में कम ब्याज दर और कम जोखिम पर निवेश के लिए प्रोत्साहित किया। पूँजीपति इन उपायों पर इसलिए राजी हो गये, क्योंकि उस दौर में विश्व शक्ति संतुलन मजदूर वर्ग के पक्ष में था और पूँजीवादी विश्व को समाजवादी क्रान्ति का भय सता रहा था।

लेकिन आज परिस्थिति पूरी तरह भिन्न है। घाटे का बजट, राष्ट्रीय कर्ज आदि उपाय ओबामा सरकार पहले ही आजमा चुकी है और आज पूँजीपतियों को मजदूर आन्दोलन व कम्युनिज्म का कोई खौफ नहीं, जिससे डरकर वे सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों को स्वीकार कर लें। इसके विपरीत “इतिहास के अन्त” और “पूँजीवाद के सिवा कोई चारा नहीं” का नारा लगाते हुए वे लगातार अंधे कुएँ की ओर बढ़ते जा रहा हैं। नतीजा यह कि लोगों की क्रय-शक्ति घटने के साथ ही अमरीका का घरेलू बाजार सिकुड़ता जा रहा है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 1930 की महामंदी से निपटने के दौरान अमरीकी सरकार पर जो कर्ज चढ़ा था वह द्वितीय विश्व युद्ध में तबाह यूरोपीय देशों के पुनर्निर्माण में काफी हद तक कम हो गया। विश्व युद्ध और मार्सल प्लान के फलस्वरूप अमरीकी व्यवस्था मजबूत हुई लेकिन आज साम्राज्यवादियों के बीच साँठ-गाँठ का पहलू प्रधान होने के कारण युद्ध अर्थव्यवस्था के जरिये संकट को टालना भी सम्भव नहीं हैं। वे आपसी युद्ध के बारे में सोच भी नहीं सकते, क्योंकि आने वाला युद्ध उनके मौत का आखिरी फरमान हो सकता है।

अमरीकी पूँजीपति खुद अपने देश में पूँजी लगाना लाभप्रद नहीं समझते क्योंकि वहाँ की उत्पादन प्रणाली संकटग्रस्त है। वे उभरती अर्थव्यवस्थाओं में या शेर बाजार में पूँजी निवेश के लिए लालायित रहते हैं। इसलिए हाल ही में अमरीकी राष्ट्रपति ओबामा ने भारत जैसी उभरती अर्थव्यवस्थाओं से अपने यहाँ निवेश का मौका देने

का अनुरोध किया ताकि विकासशील देशों से आने वाले धन से उनकी गाड़ी कुछ दिन और खिंच जाये।

क्या चीन तारनहार है?

संकटग्रस्त विश्व पूँजीवाद की निगाहें चीन की तरफ हैं। लेकिन दुनिया को मंदी से निजात दिलाना चीन के सामर्थ्य से बाहर है। चीन ने अपने ही घरेलू संकटों से लड़ने के लिए 3200 अरब डॉलर का कोष बनाया है। 2008 की मंदी के दौरान उसने अमरीका को 600 अरब डॉलर का सहयोग दिया था। लेकिन इस बार मंदी की भयावहता देखकर उसके कदम ठिठक जाते हैं। साथ ही वह अपनी पूँजी यूरोप और अमरीका में लगाकर अपने देश में मुद्रास्फीति को बढ़ावा देना या अपनी घरेलू माँग को गिराना नहीं चाहेगा। लेकिन वह यह भी नहीं चाहेगा कि अमरीका और यूरोप के पतन के साथ ही दुनिया से साम्राज्यवाद का नाश हो जाये। इसलिए कि चीन के 'कम्युनिस्ट' शासकों का वर्गीय स्वार्थ अमरीका और यूरोप के पूँजीवादी शासकों के साथ नत्थी हो चुका है। यह आज की नंगी सच्चाई है। साम्राज्यवाद और अपनी अन्दरूनी अर्थव्यवस्था के बीच का टकराव ही बीजिंग की हर नीति तय करता है। छोटे स्तर पर और भिन्न रूप में यही हाल नयी दिल्ली का भी है। लेकिन भारत के शासक अमरीका के हर दबाव के आगे झुकने को मजबूर हैं, क्योंकि चीन की तरह अपने उत्पादन का आधार मजबूत करने के बजाय उन्होंने अमरीकापरस्ती का रास्ता अपनाया।

चीन अपने निवेश का आधा हिस्सा अपनी अन्दरूनी अर्थव्यवस्था में लगाता है जो 2008 की अपेक्षा आज ज्यादा है। इससे अमरीका और यूरोप चीन से खार खाये हुए हैं। एक दूसरे के साथ इन्होंने "मुद्रा युद्ध" छेड़ रखा है। अगर डॉलर की तुलना में युआन और रुपया मजबूत हो जाय तो चीन और भारत का निर्यात आय घटेगा और आयात का खर्चा बढ़ेगा। इसलिए इन देशों ने अपने निर्यातकों की सहायता करने और निर्यात उद्योगों को बचाने के लिए मुद्रा अवमूल्यन का सहारा लिया है। साथ ही मुद्रास्फीति को काबू में करने के लिए उसने कई बार ब्याज दरों में वृद्धि की है। चीन भी संकट से मुक्त नहीं है। वहाँ की प्रान्तीय सरकारों की 27 प्रतिशत अर्थव्यवस्था कर्ज में डूबी हुई है और एक चौथाई प्रान्त दिवालियेपन के कगार पर हैं। सबसे पहले बीजिंग अपनी प्रान्तीय

सरकारों को बचायेगा। इसलिए अमरीका और यूरोपको तारने में चीन का योगदान कम ही होगा।

पिछले साल तक उभरते बाजारों को वैश्विक आर्थिक वृद्धि का इन्जन माना जाता था। आर्थिक विकास की ऊँची दर इन देशों के शेयर बाजार में निवेश को लुभाने वाला महत्वपूर्ण कारक था। साम्राज्यवादी देशों के मंदीग्रस्त होने के चलते वे पूँजी निवेश के लिए बेहतर विकल्प माने जाते थे। लेकिन इस तूफान में उनकी नैया भी डगमगाने लगी है। इसीलिए युआन के अवमूल्यन से खफा अमरीका ने चीन सहित अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करने वाले अन्य देशों के खिलाफ एक कानून पास किया है जिसके जरिये उन्हें दण्डित करके रास्ते पर लाया जायेगा। यहाँ "राष्ट्र-राज्य" और "संरक्षणवाद" की भूमिका असंदिग्ध है।

भारत में मंदी की दस्तक

जिन दरख्तों की जड़ें उथली होती हैं वे तूफान आने पर हमेशा उखड़ जाते हैं। भारत की अर्थव्यवस्था पर यह हूबहू लागू होता है। हमारे देश के रहनुमा जनता को बताते हैं कि भारत में आर्थिक संकट नहीं है, लेकिन पूँजीपतियों के संगठन फिक्की की सभा में वे आर्थिक संकट से लड़ने के उपायों पर चर्चा करते हैं। पेज-22 पर दी हुई सारणी से स्पष्ट है कि 2008 की अपेक्षा इस बार भारत की मंदी कहीं अधिक गम्भीर है।

जुलाई से रुपये का मूल्य 43.83 रु. प्रति डॉलर से घटकर अब 49.40 रु. प्रति डॉलर रह गया है। आयात में वृद्धि और निर्यात में सापेक्षिक कमी के चलते भी रुपये की कीमत कम हुई है। हर महीने निर्यात की अपेक्षा 10 अरब डॉलर से अधिक का आयात हो रहा है जिससे व्यापार घाटा लगातार जारी है। देश आज निर्यातोन्मुखी व्यवस्था बनाने का अभिशाप झेल रहा है। लेकिन निर्यातकों को तबाही से बचाने के लिए सरकार ने 1700 करोड़ रुपये के निर्यात प्रोत्साहन की घोषणा की है। फिर भी सरकार कहती है कि भारत वैश्विक मंदी से अप्रभावित है।

रुपये के अवमूल्यन और अन्तरराष्ट्रीय बाजार में पेट्रोलियम महँगा होने का बहाना बनाकर सरकार ने पेट्रोल, डीजल, कुकिंग गैस और उर्वरकों की कीमतें बढ़ा दी है। इससे महँगाई दर बढ़ गयी जबकि महँगाई को काबू में करने के लिए रिजर्व बैंक ने ब्याज दर बढ़ा दी। इससे एक ओर मुद्रास्फीति कुछ कम हुई, वहीं दूसरी ओर

दोनों मंदियों के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था की तुलना

2008 की मंदी

1. सकल घरेलू उत्पाद में 9.3 प्रतिशत और उद्योग में 15 प्रतिशत की वृद्धि दर।
2. मुद्रास्फीति 13 प्रतिशत थी लेकिन रुझान नीचे की ओर था।
3. आर्थिक संकट के फूटने से पहले उत्प्रेरक कदम उठाना सम्भव था क्योंकि वित्तीय घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 2.7 प्रतिशत था।
4. मौद्रिक नीति जैसे रेपोरेट, रिजर्व रेपोरेट और मुद्रास्फीति को घटा-बढ़ा कर रिजर्व बैंक ने अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहित किया था।
5. छोटे वेतन आयोग की सिफारिश, किसानों की कर्ज माँफी और नरेगा जैसा कार्यक्रमों की आंशिक सफलता ने माँग को एक हद तक बढ़ाया। हालाँकि इससे मुद्रास्फीति भी बढ़ गयी।
6. चालू खाता घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 1.3 प्रतिशत था और पोर्टफोलियो व प्रत्यक्ष विदेशी निवेश तेज था।

2011 की मंदी

1. सकल घरेलू उत्पाद में 7.2 प्रतिशत से कम और उद्योग में 7 प्रतिशत वृद्धि दर।
2. मुद्रास्फीति 9.4 प्रतिशत जून में थी और रुझान ऊपर की ओर है।
3. सरकारी खर्च में कटौती करने से माँग में कमी आयेगी। वित्तीय घाटा 5 प्रतिशत के ऊपर है जिसे संतुलित करने के लिए सरकारी खर्च में कटौती की जा सकती है।
4. अधिक मुद्रास्फीति संकट के कारण रिजर्व बैंक आज असहाय नजर आ रहा है।
5. योजना आयोग का मानना है कि मुद्रा स्फीति को काबू में लाने के लिए ऐसी कल्याणकारी योजनाओं में कटौती की जरूरत है।
6. चालू खाता घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 2.7 प्रतिशत है जो निर्यात गिरने से और बढ़ सकता है। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और पोर्टफोलियो निवेश में गिरावट आयी है।

स्रोत – articles.economicstimes.indiatimes.com

बैंकों के कर्ज लेने की क्षमता घटने के कारण औद्योगिक विकास की रफ्तार गिरने लगी। इससे विदेशी निवेशक भारतीय शेयर बाजार से उड़न छू होने लगे। विदेशी निवेश की बैशाखी पर निर्भर देश की अर्थव्यवस्था लड़खड़ाने लगी। लेकिन मुद्रास्फीति गिरने से उपभोक्ता वर्ग ने कुछ देर के लिए राहत की साँस ली। दरअसल मौद्रिक नीति के जरिये रिजर्व बैंक औद्योगिक विकास की रफ्तार और अभिजात वर्ग की क्रय शक्ति को प्रभावित करता है।

घरेलू बाजार के संकटग्रस्त होते ही विदेशी निवेशक अपनी पूँजी निकालकर भाग जाते हैं। कम्प्यूटर और इन्टरनेट की तीव्रता इन मौकापरस्तों का काम आसान कर देती है। केवल अगस्त में ही भारत के शेयर बाजार से 2.2 अरब डॉलर की पूँजी खींचकर भाग चुके हैं। इस कदम से भारतीय अर्थव्यवस्था और अधिक संकटग्रस्त हुई है। इन पर अंकुश लगाने के बजाय सरकार उनकी सहायता के लिए अर्थव्यवस्था के कपाट और अधिक खोलने को

लालायित हैं। विदेशी निवेशकों को लुभाने के लिए सरकार यूरिया के मूल्य से सरकारी नियंत्रण हटाने खनन को वैधानिक बनाने, सुधारों में और अधिक तेजी लाने, निवेश के अवसर को सुविधा सम्पन्न बनाने तथा मुद्रास्फीति नियन्त्रित करने जैसे उपाय करने जा रही है।

इन उपायों से संकट का हल होना संदेह से परे नहीं है, लेकिन मेहनतकश जनता की स्थिति और भी दयनीय हो जायेगी, इसमें कोई संदेह नहीं। यूरिया के मूल्य से नियंत्रण हटते ही कम्पनियाँ मनमाना दाम तय करके किसानों को लूटेंगी। मल्टी ब्रॉण्ड रिटेल में विदेशी निवेश की अनुमति के खिलाफ लोगों के विरोध को देखते हुए सरकार अब सिंगल ब्राण्ड रिटेल में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश बढ़ायेगी। इससे छोटे खुदरा व्यापारी तबाह होंगे।

भारत में मन्दी का एक उदाहरण स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (एसबीआई) का संकटग्रस्त होना है। 2008 की

मंदी में एसबीआई की पूँजी शेयर बाजार में डूब गयी थी। लेकिन उस समय खतरा बड़ा नहीं था क्योंकि शेयर बाजार में एसबीआई की हिस्सेदारी कम थी। सरकार ने इस बात के लिए अपनी पीठ भी थपथपायी थी। लेकिन 2008 के सबक को भुला दिया गया और सटोरिया पूँजी में बढ़ती भागीदारी ने आखिरकार उसे बरबादी के कगार पर ला दिया। उसकी रेटिंग गिर गयी। एसबीआई आज 12,000 करोड़ रुपये की कमी झेल रहा है। सरकार ने मार्च 2012 तक उसे 3,000 से 4,500 करोड़ रुपये सहयोग का आश्वासन दिया है। एसबीआई में सरकार की हिस्सेदारी 59 प्रतिशत होने के कारण उसे बचाना सरकार के लिए जरूरी होगा, लेकिन ऐसा करते समय ग्रीस संकट की तरह वह खुद के लिए दलदल का निर्माण करेगी।

भारत पर विदेशी कर्ज बढ़कर जून में 317 अरब डॉलर हो गया जो विदेशी मुद्रा भण्डार का 99.6 प्रतिशत है। इसका मतलब कुल प्रभावी मुद्रा भण्डार लगभग शून्य पर पहुँच चुका है। मीडिया ने सरकार की तरह लम्बे समय तक मंदी को छुपाया, लेकिन अब सच्चाई प्रधानमंत्री और वित्तमंत्री के सिर चढ़ कर बोलने लगी है। सरकार संकट से बचने के लिए तेज वृद्धि दर, शेयर और मुद्रा बाजार में जोखिम रहित ऊँचे मुनाफे की गारण्टी तथा देश की रही-सही सम्पत्ति को कौड़ियों के मोल लुटाकर विदेशी निवेशकों को दुबारा आकर्षित करने की योजना बना रही है। उसे देश की 80 करोड़ गरीब जनता की चिन्ता नहीं है। वह लुटेरी वित्तीय पूँजी की सेवा करने में जी-जान से जुटी हुई है।

हमारे देश में यह चर्चा पहले से होती रही है कि देश का आर्थिक विकास सर्वसमावेशी नहीं है। एक वर्ग की कीमत पर दूसरे वर्ग का विकास हो रहा है। जब भारतीय अर्थव्यवस्था 8 प्रतिशत की ऊँची दर से बढ़ रही थी, उस समय रोजगार में वृद्धि दर उसकी आधी भी नहीं थी। देश की आधे से अधिक आबादी की जीविका कृषि पर निर्भर है जो पिछले कई सालों से ठहराव ग्रस्त है। दूसरी ओर सेवा क्षेत्र का विकास तेज गति से हुआ है। इनमें भी अंग्रेजीभाषी सूचना प्रौद्योगिकी और साफ्टवेयर से जुड़े कर्मचारियों, मीडियाकर्मी, नेता-अभिनेता और क्रिकेटर्स की आमदनी काफी तेजी से बढ़ी है। इसे देखकर देशकी तश्वीर उदय प्रकाश की कहानी 'मैंगोसिल के

बीमार बच्चे की याद दिलाती है, जिसमें शरीर की तुलना में सिर की अधिक वृद्धि उसके लिए जानलेवा साबित होती है और वह बच्चा दस साल से कम उम्र में मर जाता है।

संकट का अभिप्राय और निहितार्थ

सितम्बर में संकट का समाधान सुझाते हुए अमरीकी राष्ट्रपति ओबामा ने कहा कि धनी अमरीकियों को अपना टैक्स बढ़ाकर लम्बी अवधि के बजट घाटे में कमी का बोझ अपने ऊपर लेना चाहिए। इस पर व्यंग करते हुए विरोधी नेत ने कहा, "वर्ग संघर्ष! आप तो अमीरों के खिलाफ वर्ग संघर्ष छेड़ रहे हैं।"

लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं था। ओबामा पूँजीपति वर्ग के दूरगामी हितों को देखते हुए उसे संयम बरतने का उपदेश दे रहे थे। लेकिन पूँजीपति और बुद्धिजीवी यह जानते हैं कि वित्तीय पूँजी के दानव जिस तरफ बढ़ रहे हैं, वहाँ यमराज उनकी प्रतीक्षा में हैं। लेकिन चूँकि उनके सामने तत्काल कोई चुनौती नहीं है, इसलिए वे उस रास्ते पर बेफिक्र और अन्धे होकर बढ़ रहे हैं। आज पूँजीपतियों की आपसी रंजिश दिख नहीं रही है। नयी दिल्ली से लेकर वाशिंगटन तक वे आपस में साँठ-गाँठ करके अपनी पूँजी बढ़ाने में लगे हैं। इसके चलते एक तरफ पूँजीपतियों की संख्या और धन-सम्पदा में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है। लेकिन उनका लोभ-लालच धरती की सारी दौलत निगल कर भी शान्त होने वाला नहीं है। वित्तीय जोंकों ने दुनिया के शेयर बाजारों में पृथ्वी पर वास्तव में जितनी दौलत मौजूद है, उससे दस गुनी अधिक सम्पत्ति दाँव पर लगा रखी है। शेयर बाजार की इस फर्जी सम्पत्ति को कानूनी तरीके से कैसे असली सम्पत्ति में बदला जाय, इस बात के लिए उनकी आपसी होड़ में दुनिया की अर्थव्यवस्था का डूबना तय है।

वास्तव में दुनिया की अर्थव्यवस्था पर जिन मुट्ठी भर वित्तीय जोंकों का कब्जा है, उन्हीं की पूँजी के ऑक्सीजन से सभी देशों की अर्थव्यवस्थाएँ साँस लेती हैं। असली अर्थव्यवस्था के ठहरावग्रस्त हो जाने पर दुनिया में पूँजी और आर्थिक क्रियाकलाप का मुख्य जरिया ये ही हैं। ये सभी देशों को कर्ज और निवेश का घी पिलाकर जिन्दा रखते हैं। बदले में सभी देश अपनी मेहनतकश जनता का खून निचोड़कर इनके मुनाफे की भूख शान्त करते हैं। लेकिन ये किसी के सगे नहीं हैं। अर्थव्यवस्था की रपतार धीमी पड़ते ही ये रातों-रात उड़न-छू हो जाते हैं, देश को असहाय-बिलखता छोड़कर। इस तरह सभी

देशों की सरकारों पर इनका जबरदस्त प्रभुत्व होता है। इनका कहना न मानने वाले देशों और सरकारों को तबाह कर देने की धमकी दी जाती है। इन वित्तपतियों ने अमरीका को 15 लाख करोड़ डॉलर का कर्ज दे रखा है और बदले में अमरीकी शासन की नकेल अपने हाथ में पकड़ रखा है।

पिछले कई वर्षों से अमरीका और वैश्विक अर्थव्यवस्था का रुझान दो दिशाओं में बहुत तेजी से बढ़ा है। कर्ज लेकर देश की अर्थव्यवस्था चलाना और दूसरा वित्तीय पूँजी के दानव का पैदा होना, बढ़ना और धरती को विनाश की ओर ले जाना। एक समय था जब विकास की दिशा में अग्रसर किसी देश की अर्थव्यवस्था पर छोटी अवधि के कर्ज ही विकास की चालक शक्ति हुआ करते थे, लेकिन अब कर्ज संकट का यह भस्मासुर अपने ही जनक को मारने पर तुला है। कर्ज संकट और वित्तीय पूँजी में वृद्धि एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। 1970 के दशक से नये-नये और उत्तरोत्तर जटिल वित्तीय उपकरण जैसे— फ्यूचर्स, आपसन्स और स्वैप, शेयर बाजार में उतरते गये। ये उपकरण खिलाड़ियों को जोखिम रहित अधिक मुनाफे का प्रलोभन देते हैं। लेकिन असली अर्थव्यवस्था के बुलबुले के नीचे फँसे इस विशालकाय विस्फोटकों को जितना ही अधिक सुरक्षित खोल पहनाकर इसके वजन को बढ़ाया गया, यह भविष्य के लिए उतना ही ज्यादा खतरनाक होता गया।

इससे होने वाला पहला खतरा तब दिखाई दिया जब एक बैंक में कम्प्यूटर की गड़बड़ी के चलते बैंक पर रातों-रात 22.6 अरब डॉलर का कर्ज लद गया। इससे स्पष्ट हो गया कि कम्प्यूटर नेटवर्क में गड़बड़ी या अन्य कारण से वित्तीय बाजारों में कितने बड़े भूचाल आ सकते हैं। खैर, यह तो केवल तकनीकी मामला है। वित्तीय पूँजी ने दुनियाभर में अमीरी-गरीबी की खाई और कंगालीकरण को बढ़ाया है। परजीवी और उपभोक्तावादी सांस्कृतिक मूल्य-मान्यताओं से मानवीय जिन्दगी की गरिमा को नष्ट किया है। इनमें अर्थव्यवस्था के वित्तीयकरण की ओर रुझान सबसे अधिक चिन्ता का विषय है। अब निवेशक माल उत्पादन में निवेश के बजाय पैसे से पैसा बनाना चाहते हैं, क्योंकि माल उत्पादन करने वाली असली अर्थव्यवस्था ठहरावग्रस्त हो चुकी है। लेकिन बिना माल उत्पादन के हमारा समाज एक दिन भी आगे नहीं बढ़

सकता। इसके चलते समाज लगातार भौतिक उवनति की ओर अग्रसर है जिसका नतीजा पूरी दुनिया आर्थिक मंदी के रूप में झेल रही है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था अब समाज को आगे गति देने में खुद को अक्षम पा रही है।

वित्तीय पूँजी के संकट पर एक और पहलू से विचार किया जाना चाहिए। पूँजीवाद की शुरुआत में पूँजी विस्तार की अनन्त संभावनाएँ मौजूद थीं, जैसे इंग्लैण्ड से निकलकर पूँजी अन्य देशों में फैल रही थी, माल उत्पादन से मशीनरी उत्पादन में और भारी उद्योग जैसे बिजली, नहर, रेलवे आदि में निवेश की जरूरत थी। मजदूरों का शोषण करके पूँजी संचय करना नैतिक रूप से गलत था लेकिन इस संचित पूँजी का उपयोग करके पूँजीवादी उत्पादन का विस्तार आर्थिक दृष्टि से सकारात्मक कदम था। इस तरह उस दौर में अगर पूँजीपति अपनी सारी पूँजी मजदूरों में न्यायपूर्वक बाँट देता तो शायद आज जैसी समृद्धि दुनिया में कभी नहीं आती और न ही उत्पादन के साधन इतने उन्नत होते कि आज केवल अमरीकी खेती की उपज से पूरी दुनिया को भरपेट खिलाना सम्भव है।

लेकिन आज अतिरिक्त पूँजी उद्योग में न लगकर वित्तीय क्षेत्र में सट्टेबाजी के लिए उपयोग की जा रही है, जो पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था को संकटग्रस्त कर रही है। इसलिए आज मजदूरों का शोषण करके मुनाफे के जरिये पूँजी संचय को जायज नहीं ठहराया जा सकता। यह नैतिक आधार पर ही नहीं बल्कि आर्थिक दृष्टिकोण से भी गलत कदम है, क्योंकि ऐसी स्थिति में मजदूरों की क्रयशक्ति गिरने से बाजार में माँग घट जायेगी और संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था पहले से भी अधिक सिकुड़ जायेगी। इस तरह आज पूँजीवाद का यह आत्मघाती दुश्चक्र दुनिया की भौतिक प्रगति में सहायक न होकर उसे पतन के गर्त में ले जा रहा है।

आज परिवर्तनकामी शक्तियों का कर्तव्य है कि वे रक्तपिपासु वित्तीय पूँजी को पूरे तामझाम सहित दफन करके एक नयी मानवकेन्द्रित व्यवस्था की नींव रखें, जिसमें सबके लिए उत्पादन और उपभोग की गारन्टी की जा सके और जो वित्तीय पूँजी के मुनाफे की हवस से संचालित होने के बजाय सबके लिए नौकरी, शिक्षा, घर स्वास्थ्य, मनोरंजन, बुढ़ापे में सुरक्षा की गारन्टी और एक सम्मानजनक जिन्दगी के महान उद्देश्य से प्रेरित हो।

बड़े आए हैं मेरा दिल लेने वाले

प्रो. वशिष्ठ अनूप

शमशेर जटिल और संसल्लिप्त संरचना के कवि हैं। यह जटिलता सिर्फ अभिव्यक्ति के धरातल पर नहीं, अनुभूति के स्तर पर भी है। उनका मार्ग सीधा-सपाट न होकर टेढ़ा-मेढ़ा और उछाल भरा है। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और त्रिलोचन जैसी प्रेशणीयता और बतकही का अंदाज उनके यहाँ बहुत कम मिलता है क्योंकि उनकी कविताओं में शब्द कम, शब्दों की (भावों की भी) गूँज अधिक है। उनके यहाँ खामोशी भी बहुत है पर यह खामोशी भी बोलती है। यहाँ तक कि उनके यहाँ विराम चिह्न और डॉट्स भी बोलते हैं। उन्हीं के शब्दों में—

“उसने मुझसे पूछा, इन शब्दों का क्या मतलब है? मैंने कहा शब्द कहाँ हैं?”

तो उनके लिए शब्द महत्वपूर्ण नहीं हैं, महत्वपूर्ण है वह अर्थ जिसकी ओर शब्द सिर्फ़ सकेंत कर पाते हैं। उनके शब्द रंगों, रेखाओं और स्वरों के सम्मिश्रण से बने हैं इसीलिए वे अपूर्ण और विलक्षण बिम्बों की रचना कर लेते हैं। कई बार वे समूची घटना का चित्रण न करके उसके प्रभाव का बिम्ब अंकित कर देते हैं—

“थरथराता रहा जैसे बेंत

मेरा काय...

कितनी देर तक

आपाद मस्तक।”

प्रेम और सौन्दर्य के नैसर्गिक प्रभाव का ऐसा अंकन शमशेर ही कर सकते हैं। उनकी कविताएँ इस दृष्टि से भी अलग हैं कि उनका मर्म सहसा उद्घाटित न होकर धीरे-धीरे खुलता है।

शमशेर जी की रचना-प्रक्रिया बहुत स्वाभाविक है और वही है जो प्रत्येक नैसर्गिक प्रतिभा-सम्पन्न कवि की होती है। उसमें लगकर कविता बनाने के बजाय उमड़कर आँखों से चपुचाप बहने की प्रक्रिया है। एक साक्षात्कार में अपनी रचना-प्रक्रिया पर बात करते हुए उन्होंने कहा था कि— “कविता मेरे सामने एक फलैश की तरह आती है। एक फोर्स के साथ। जो कौंध जाता है वह पूरी की पूरी रचना नहीं— उसका मूल, केन्द्रीय या कोई विशिष्ट

अंश ही होता है और आरम्भिक शब्द भी उसी कौंध के साथ-साथ आते हैं जैसे रात में प्लेटफार्म पर खड़े गाड़ी की प्रतीक्षा करते हुए मुसाफिरों को यकायक पटरियों की सीध में दूर कोई क्षीण-सी चमक इंजन की लाइट की दिखाई दे और धीरे-धीरे वह निश्चित रूप से पास आती जाये। यह चमक क्षीण-सी न होकर तेज भी हो सकती है। अगर कविता “जीवन से फूटकर” निकलती है तो उसमें जीवन की सारी बेताब उलझनें और आशाएँ और कोशिशें और हिकमतें कवि के अन्दर की पूरी ईमानदारी के साथ अपने सरगम के पूरे बोल बजाने लगेंगी।” (शमशेर : कवि से बड़े आदमी, सं. रंजना अरगडे, महावीर अग्रवाल, पृष्ठ 11)

“कविता मेरे सामने बिजली की तरह कौंधती है, अगर दो मिनट के लिए भी मैं चूक गया तो वह फिर कभी नहीं आती। रचनाएँ मेरे मन में गुँथती बनती रहती हैं। अपने चारों ओर जो भी घटता है उसे देखता, सुनता और जानता रहता हूँ। मेरी कविता के निर्माण में आसपास की साधारण सी वस्तु भी जब सामने आती है तो मैं उसको भी अपने रंग में लपेटकर अपनी कविता में शामिल कर लेता हूँ। इसके बाद जो कविता का विकास होता है वो रचना की अपनी शर्तों पर होता है। मेरी अन्दर की अनुभूतियाँ झूठी न पड़ें इसलिए मैं उस सामग्री में और कुछ भी जोड़ देता हूँ। इस तरह कविता में एक नया पात्र आ जाता है, जिसका पहले मुझे आभास भी नहीं था।” (वही, पृष्ठ 265)।

“कई बार ऐसा भी होता है कि मूल विषयवस्तु का आभास कविता में कठिनता से होता है या नहीं भी होता है। मेरी बहुत सी इधर की कविताएँ इसी पैटर्न पर लिखी गयी हैं।” (वही, पृष्ठ 265) “मेरी कविताएँ अपनी पीड़ा की रिदम (लय) लेकर आती हैं। कवि अपनी गहरी और चित्त को आक्रांत करने वाली अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए बाध्य होता है। रचना प्रक्रिया का यह एक सामान्य सिद्धान्त है, कम से कम मेरा अपना अनुभव तो यही है। इस प्रकार कवि के काव्यगत संस्कार और उसका रचना

अभ्यास, उसकी रचना शैली के साथ-साथ उसकी क्षमता और उसकी संवेदना से ही उसकी रचना प्रक्रिया विकसित होती है। रचना लिखने के लिए कवि विषयवस्तु और फार्म का चुनाव करता हुआ अपने आपको नये सिरे से व्यक्त करता है। सामान्यतः मैं कविता तभी लिख पाता हूँ जब वह भीतर से जोर देकर बाहर आती है। दंगों से मुझे तकलीफ होती थी पर उसी समय मैं दंगों पर नहीं लिख पाता था।” (वही, पृष्ठ 264-265)

तो यह है शमशेर की रचना-प्रक्रिया। वे बहुत हद तक कविता को स्वतःस्फूर्त मानते हैं। इस स्वतःस्फूर्त कविता में उनके आस-पास की जिन्दगी भी कुछ हद तक शामिल हो जाती है। उनकी अनुभूति अपने लिए लय-छंद लेकर आती है और कभी-कभी फार्म का चुनाव भी करना पड़ता है। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनकी कविताओं में कई बार मूल विषयवस्तु का आभास कठिनाई से होता है। यह मुश्किल उनकी कविताओं को पढ़ते हुए अक्सर महसूस होती है। शमशेर बहादुर सिंह की ख्याति प्रयोगवाद और नई कविता के श्रेष्ठ कवि के रूप में है। लेकिन गज़ल की दुनिया में भी उनकी खास पहचान है। उनके तमाम शेर लोगों की ज़बान पर हैं। उन्होंने अरबी-फारसी की समृद्ध परम्परा को आत्मसात करके अपनी गज़ल का एक नया मिजाज बनाया है जिसे उर्दू या हिन्दी में बाँटना बहुत मुश्किल है। वे हिन्दी या उर्दू के नहीं, हिन्दी और उर्दू के गज़ल गो हैं। अपनी ‘बाढ़ 1948’ शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है कि—

**मैं उर्दू और हिन्दी का दोआब हूँ।
मैं वह आईना हूँ जिसमें आप हैं।
मैं एक नज़्म हूँ, एक दोहा हूँ,
नजाने किसका।**

इन पंक्तियों में वे अपनी भाषा, शिल्प और सरोकार सभी स्पष्ट कर देते हैं। उन्हें हिन्दी और उर्दू दोनों से एक जैसी आत्मीयता महसूस होती है—

**वो अपनों की बातें, वो अपनों की खूशबू
हमारी ही हिन्दी, हमारी ही उर्दू।
ये कोयल-ओ-बुलबुल के मीठे तराने
हमारे सिवा इसका रस कौन जाने।**

वे गज़ल को कविता का ही एक रूप मानते हैं। एक जगह वह कहते हैं कि ‘मैं’ अपनी गज़लों को हिन्दी रचनाओं से कभी अलग नहीं करना चाहूँगा। शिल्प के विषय में वह कहते हैं कि—

‘मेरे कवि ने कभी किसी फार्म, शैली या विषय का सीमा-बंधन स्वीकार नहीं किया।’ गज़ल के विषय में शमशेर का मानना है कि गज़ल भी कविता की ही तरह व्यापक जनता के स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ उसकी चेतना का उन्नयन भी कर सकती है। शमशेर की गज़लें अनेकायामी हैं। उनमें अनेक मनःस्थितियाँ और विविध रंग हैं। उनकी कविताओं की भाँति ही उनकी गज़लों की दुनिया भी बहुत बड़ी है। उनकी गज़लों को पढ़कर ऐसा लगता है कि वे अपने युगीन समाज की स्थितियों से सन्तुष्ट नहीं थे और उसे बदलने के लिए बेचैन थे। अतः उन्हें यह ज़रूरी लग रहा था कि कविता को कल्पना-जगत से उतार कर यथार्थ की ठोस ज़मीन पर खड़ा किया जाये—

**वही उग्र का एक पल कोई लाए
तड़पती हुई—सी गज़ल कोई लाए।
हकीकत को लाए तख़्तियुल से बाहर
मेरी मुश्किलों का जो हल कोई लाए।
कहीं सर्द खूँ में तड़पती है बिजली
जमाने का रद्दो-बदल कोई लाए।**

शमशेर की गज़लें रवायती गज़ल से इस मायने में भिन्न हैं कि उनमें अन्य बातों के साथ-साथ किसान-मजदूर और समूचे मेहनतकश अवाम की जिन्दगी के अभाव उसके दुख-दर्द तथा बीमारी-बदहाली के चित्र भी बड़ी सजीवता और प्रामाणिकता के साथ उपस्थित हैं। विकास की तमाम योजनाओं और आश्वासनों के बावजूद आम आदमी के जीवन का यही सच है कि—

**आई बहार हुस्न का खाबे-गराँ लिए हुए
मेरे चमन को क्या हुआ, जो कोई गुल खिला नहीं।**

अभावग्रस्त व्यक्ति को बाहर-भीतर हर जगह उपेक्षा झेलनी होती है—

**आज फिर काम से लौटा हूँ बड़ी रात गये
ताक पर ही मेरे हिस्से की धरी है शायद।**

शमशेर की तमाम कविताएँ अतिशय कलात्मकता और जटिल बिम्ब बहुलता के कारण यह भ्रम उत्पन्न करती हैं कि वे सुविधा-सम्पन्न वर्ग के कवि हैं। किन्तु उनकी कविताओं की गहराई में जाने पर ऐसा नहीं लगता। उनकी गज़लों में आम आदमी के प्रति उनकी पक्षधरता एकदम स्पष्ट है—

**विचार अपने जो हैं घास-फूस तिनका है
खयाल आपका है मोतियों-पिरोया हुआ।**

दलित, पीड़ित, वंचित समाज की बातें सुविधाभोगी वर्ग को तिनके सी नगण्य लगती हैं।

जो बाज़ार आज विकराल रूप धारण करके समूचे जीवन—मूल्यों और सारी मानवता को निगलने और मानव—मात्र को सिर्फ विचारशून्य, संवेदनशून्य उपभोक्ता में बदल देने के लिए आमादा है, उसका असली रूप शमशेर ने भी देख लिया था। उन्होंने यह लक्ष्य किया था कि बाज़ार में बुद्धि—विवेक से लेकर धर्म, ईमान तथा सौन्दर्य और प्रेम सबकुछ बिक रहा है, उसे खरीदने के लिए सिर्फ पैसों की ज़रूरत है—

**इल्मो—हिकमत दीनो—इमाँ, मुल्को—दौलत,
हुस्नो—इश्क**

आपको बाज़ार से जो कहिए ला देता हूँ मैं।

शमशेर की भाँति ही एक बार कलकत्ते के बाज़ार में सबकुछ बिकता देखकर असदुल्ला खाँ ग़ालिब भी दंग रह गये थे और कहा था कि—

**तुम शहर में हो तो हमें क्या ग़म? जब उठेंगे
ले आएँगे बाज़ार से जाकर दिलो—जाँ और।**

शमशेर ने राजनीतिक तेवर की भी कई गज़लें कही हैं। उनमें नेताओं की आत्मकेन्द्रित सोच, स्वार्थ, तिकड़म, क्षेत्रीयता, दुलमुलपन और अवसरवादिता आदि पर बहुत बेबाक और तल्ख टिप्पणियाँ की गई हैं— 'धर्म तिजारत पेशा था जो वही हमें ले डूबा है' और 'कैसा सियासत का तूफान कि आग की लपटों में इंसान' जैसे मिसरों में उनकी यह चिन्ता बहुत स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। देश की राजनीति जिस दिशा में जा रही थी उसका आभास उन्हें आज़ादी के तुरन्त बाद ही हो गया था। सन् 1948 में लिखी उनकी एक गज़ल 'राजनीतिक करवटें' में उन्होंने व्यंग्यात्मक लहजे में कहा है कि—

हाय लीडर दुरंगी न कम गुम हुए!

बीच धारा अगम थी—गुडम गुम हुए!!

बोली बरसात में इंकलाबी दुल्हन:

'ले के छाता हमारा बलम गुम हुए!

शमशेर जी ने अपनी कई गज़लों में आमफ़हम और सीधे—सादे शब्दों का प्रयोग किया है जिनके कारण उनका कथ्य सीधे—सीधे सम्प्रेषित हो जाता है। बीसवीं सदी के अंत में राजनीतिक स्थिति, अवसरवादिता तथा नेताओं की रीढ़विहीन, आचरणविहीन तथा अस्तित्वहीन स्थिति को उन्होंने इस प्रकार व्यक्त किया है—

**राह तो एक थी हम दोनों की, आप किधर से
आए—गए!**

**हम जो लुट गए पिट गए, आप जो राजभवन
में पाए गए।**

**किस लीला युग में आ पहुँचे अपनी सदी के
अन्त में हम**

नेता, जैसे घास—फूस के रावन खड़े कराए गए।

इसी गज़ल की अगली पंक्तियों में उन्होंने तथाकथित धर्म और मज़हब की वास्तविकता का पर्दाफास किया है। धर्म के नाम पर आडम्बर फैलाने वाले ढोंगी पण्डों—पुजारियों और नेताओं के वक्तव्यों और आचरण की फाँक को दिखाते हुए उन्होंने कहा है कि—

जितना ही लाउडस्पीकर चीखा

उतना ही ईश्वर दूर हुआ:

(अल्ला—ईश्वर दूर हुए!)

उतने ही दंगे फैले, जितने

'दीन—धरम' फैलाए गए।

मूर्तिचोर मंदिर में बैठा

औ गाहक अमरीका में,

दान—दच्छिना लाखों डॉलर

गुप्तदान करवाए गए।

इतिहास बताता है कि धर्मों की भूमिका ज्यादातर नकारात्मक ही रही है। इकबाल ने भले ही कहा हो कि 'मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' लेकिन सच्चाई इसके ठीक विपरीत है। धर्मों ने अक्सर नफ़रत और वैमनस्य का प्रचार कर समाज को तोड़ने का कार्य किया है। शमशेर भी इस सच को समझ रहे थे। इसलिए उन्होंने एक नज़्म में साफ—साफ़ लफ़्जों में लिखा—

जो धर्मों के अखाड़े हैं उन्हें लड़वा दिया जाए!

ज़रूरत क्या कि हिन्दुस्तान पर हमला किया जाए!

शमशेर ने लिखा है कि 1946 के साम्प्रदायिक दंगों में मुम्बई में लोगों ने दंगों का फायदा उठाकर अपने व्यक्तिगत प्रतिद्वंदियों और दुश्मनों को धर्म और मज़हब के नाम पर गुंडों और मवालियों को मात्र 2 रुपये से 15 रुपये तक देकर मरवाना शुरू कर दिया था। (सुकून की तलाश, सं० रंजना अरगड़े, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ 84)

इस सदंर्भ में उन्होंने लिखा है कि—

यह क्या सुना है मैंने कि 'दो रुपये सर है आज!

कुछ शहर बम्बई की ज़बानी खबर है आज!

हठधर्मियों ने खोल दिया धर्म का भरम

'ईमान' की कहाँ थी हमें जो खबर है आज।

शमशेर की खासियत इस बात में भी है कि उन्होंने उर्दू गज़ल की गज़लियत को बरकरार रखते हुए गज़ल को यथार्थ की खुरदरी ज़मीन पर चलाया है। उनकी गज़लों के तमाम शेर न केवल समाज के दुख—दर्द का

बयान करते हैं, उसके कारणों की पड़ताल करते हुए उनका समाधान भी तलाशने की कोशिश करते हैं। उनके तमाम शेरों में संघर्षशील और क्रान्तिकारी चेतना भी दिखाई पड़ती है—

**भला कोई सीना है वो भी कि जिस पर
न बरछी पड़ी है, न भाला पड़ा है।**

**जहाँ में अब तो जितने रोज अपना जीना होना है,
तुम्हारी चोटें होनी हैं हमारा सीना होना है।
फिर सुख निशाँ बनकर काँधे पे उठो तनकर
जो सर है हथेली पर उस सर की दुआ माँगो।**

शमशेर की अधिकांश कविताएँ (गज़लें भी) सौन्दर्य और प्रेम से वाबस्ता हैं। तात्विक रूप में उनकी काव्यानुभूति सौन्दर्यानुभूति और प्रेमानुभूति से ही निर्मित है। उनकी अनुभूति के इस दायरे में प्रकृति भी अपनी अपार रूप—राशि के साथ शामिल है। उनकी कविताओं में प्रेम और प्राकृतिक सौन्दर्य का अद्भुत रासायनिक घोल है। जैसे अपने चित्रों को बनाने में वे अनेक रंगों का प्रयोग करते हैं, वैसे ही उनकी सौन्दर्य और प्रेम की कविताओं में भी गुलाबी, धुँधले, साँवले, उदास, मटमैले, पीले, कथई, केसरिया, गेरूआ, चम्पई आदि अनेक रंगों का मिश्रण या कंपोजिशन है। सुन्दरता उनके अनुसार एक व्यापक शब्द है। 'दूसरा सप्तक' में उन्होंने लिखा है कि— "सुन्दरता का अवतार हमारे सामने पल छिन होता रहता है। अब यह हम पर है कि अपने सामने और चारों ओर की इस अनंत और अपार लीला को कितना अपने अन्दर घुला सकते हैं।" उनकी सौन्दर्य— दृष्टि सचमुच बहुत खूबसूरत है—

**ये बादल की लट चाँद पर है, कि मन को
दबाए हुए कौड़ियाला पड़ा है।
वो जुल्फों में सबकुछ छुपाए हुए है
अँधेरा लपेटे उजाला पड़ा है।**

उनकी कविताओं में सौन्दर्य के खूबसूरत चित्रण को देखते हुए सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने कहा था कि— 'आज तक हिन्दी में विशुद्ध सौन्दर्य का कवि यदि कोई हुआ है, तो वह शमशेर हैं। और इस 'आजतक' में मैं हिन्दी के सब कवियों को शामिल करके कह रहा हूँ।'

शमशेर की कविता मूलतः प्रेम की तलाश और प्रेम का गान है। कविता उनके लिए प्रेम की वाणी है—

**'मैं तो न जानूँ उर्दू कि हिन्दी
प्रेम की बानी साँची रे साँची।'**

इसीलिए वह साफ—साफ कहते हैं कि—

शमशेर और कुछ नहीं दुनिया जहान में

इकदिल है, दूँढ़ता हूँ उसी बेखबर को मैं।

तो शमशेर इसी दिल की दुनिया के यायावर हैं। उनके प्रेम का रूप बहुत कुछ लौकिक और मानवीय है। उस प्रेम में अपने—पराये, शत्रु—मित्र का भेद नहीं है। उसका कोई कारण नहीं है, कोई तर्क और कोई जवाबदेही नहीं है। वह है तो है और पूरी शिद्दत और समर्पण के साथ है। उनका अन्दाजेबायों देखने लायक है—

**वो दुश्मन मेरा इतना अच्छा है क्यों
जो अपना नहीं है वो अपना है क्यों।
मुझे बादशाहत नहीं चाहिए
मगर तू ही कुल मेरी दुनिया है क्यों।
तुम्हें मुझसे मिलना गवारा नहीं
मुझे और जीना गवारा है क्यों।
किसी और के हो दिलो जान से
मेरे साथ फिर ये तमाशा है क्यों।**

शमशेर ने उर्दू गज़ल के संगीत तत्त्व को आत्मसात करके हिन्दी में उतारने का महनीय कार्य किया है। उनकी गज़लों में अद्भुत प्रवाह और रवानी है। लय, गति, छंद, भाषा और भाव का खूबसूरत तालमेल है। ग़मे जानों और ग़मे दौरां का सुन्दर समन्वय है। यहाँ उनके कुछ खूबसूरत शेर पेश हैं—

**कभी राह में यूँ ही मिल लेने वाले
बड़े आये हैं मेरा दिल लेने लेने वाले।
वो इक बात जो ज़िन्दगी बन गई है
जो तुम भूल जाओ तो हम भूल जाएँ।
वो खामोशियाँ जिनमें तुम हो न हम हैं
मगर हैं हमारी तुम्हारी सदाएँ।
ईमान गड़बड़ी में है दिल के हिसाब में
लिक्खा हुआ कुछ और मिला है किताब में।
हो चुकी जब खत्म अपनी ज़िन्दगी का दास्ताँ
उनकी फरमाइश हुई है, इसको दोबारा कहें।**

शमशेर की गज़लों के सभी शेर आसानी से समझ में नहीं आते। कई जगहों पर उनकी गज़लों में अरबी—फारसी के भारी भरकम शब्दों को देखकर कुछ लोग इन्हें हिन्दी गज़लकार मानने से इनकार करते हैं। लेकिन हर जगह ऐसा नहीं है। उनकी गज़लें समाज से काफी गहरे स्तर पर जुड़ी हैं और अक्सर वह पूरे परिवेश से गुप्ततगू करती हैं। यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि दुष्यन्त कुमार ने जिस ज़मीन पर खड़े होकर अपनी कालजयी गज़लों की रचना की, उसे मजबूत आधार देने में शमशेर जी की उल्लेखनीय भूमिका थी। उनकी तमाम विशेषताओं को देखते हुए भारत भारद्वाज ने बहुत ठीक कहा है कि— 'हिन्दी कवि—लेखकों की परम्परा में सिंह तो अनेक हैं लेकिन शेर अकेले शमशेर।'

दस दिन का अनशन

हरीशंकर परसाई

10 जनवरी

आज मैंने बन्नू से कहा, देख बन्नू, दौर ऐसा आ गया है कि संसद, कानून, संविधान, न्यायालय सब बेकार हो गए हैं। बड़ी-बड़ी माँगें अनशन और आत्मदाह की धमकी से पूरी हो रही हैं। 20 साल का प्रजातंत्र ऐसा पक गया है कि एक आदमी के मर जाने या भूखा रह जाने की धमकी से 50 करोड़ आदमियों के भाग्य का फैसला हो रहा है। इस वक्त तू भी उस औरत के लिए अनशन कर डाल।

बन्नू सोचने लगा। वह राधिका बाबू की बीवी सावित्री के पीछे सालों से पड़ा है। भगाने की कोशिश में एक बार पिट भी चुका है। तलाक दिलवाकर उसे घर में डाल नहीं सकता, क्योंकि सावित्री बन्नू से नफरत करती है।

सोचकर बोला, मगर इसके लिए अनशन हो भी सकता है?

मैंने कहा, इस वक्त हर बात के लिए हो सकता है। अभी बाबा सनकीदास ने अनशन करके कानून बनवा दिया है कि हर आदमी जटा रखेगा और उसे कभी धोएगा नहीं। तमाम सिरों से दुर्गन्ध निकल रही है। तेरी माँग तो बहुत छोटी है— सिर्फ एक औरत के लिए।

सुरेन्द्र वहाँ बैठा था। बोला, यार कैसी बात करते हो! किसी की बीवी को हड़पने के लिए अनशन होगा? हमें कुछ शर्म तो आनी चाहिए। लोग हँसेंगे।

मैंने कहा, अरे यार, शर्म तो बड़े-बड़े अनशनिया साधु-संतों को नहीं आई। हम तो मामूली आदमी हैं। जहाँ तक हँसने का सवाल है, गो रक्षा आन्दोलन पर सारी दुनिया के लोग इतना हँस चुके हैं कि उनका पेट दुखने लगा है। अब कम-से-कम दस सालों तक कोई आदमी हँस नहीं सकता। जो हँसेगा वो पेट के दर्द से मर जाएगा।

बन्नू ने कहा, सफलता मिल जायेगी?

मैंने कहा, यह तो 'इशू' बनाने पर है। अच्छा बन गया तो औरत मिल जाएगी। चल, हम 'एक्सपर्ट' के पास चलकर सलाह लेते हैं। बाबा सनकीदास विशेषज्ञ हैं। उनकी अच्छी 'प्रेक्टिस' चल रही है। उनके निर्देशन में इस वक्त चार आदमी अनशन कर रहे हैं।

हम बाबा सनकीदास के पास गए। पूरा मामला सुनकर उन्होंने कहा, ठीक है। मैं इस मामले को हाथ में ले सकता हूँ। जैसा कहूँ वैसा करते जाना। तू आत्मदाह की धमकी दे सकता है?

बन्नू काँप गया। बोला, मुझे डर लगता है।

जलना नहीं है रे। सिर्फ धमकी देना है।

मुझे तो उसके नाम से भी डर लगता है।

बाबा ने कहा, अच्छा तो फिर अनशन कर डाल।

'इशू' हम बनायेंगे।

बन्नू फिर डरा। बोला, मर तो नहीं जाऊँगा।

बाबा ने कहा, चतुर खिलाड़ी नहीं मरते। वे एक आँख मेडिकल रिपोर्ट पर और दूसरी मध्यस्थ पर रखते हैं। तुम चिंता मत करो। तुम्हें बचा लेंगे और वह औरत भी दिला देंगे।

11 जनवरी

आज बन्नू आमरण अनशन पर बैठ गया। तम्बू में धूप-दीप जल रहे हैं। एक पार्टी भजन गा रही है — 'सबको सन्मति दे भगवान'। पहले ही दिन पवित्र वातावरण बन गया है। बाबा सनकीदास इस कला के बड़े उस्ताद हैं। उन्होंने बन्नू के नाम से जो वक्तव्य छपा कर बटवाया है, वो बड़ा जोरदार है। उसमें बन्नू ने कहा है कि 'मेरी आत्मा से पुकार उठ रही है कि मैं अधूरा हूँ। मेरा दूसरा खण्ड सावित्री में है। दोनों आत्म-खण्डों को मिलाकर एक करो या मुझे भी शरीर से मुक्त करो। मैं आत्म-खण्डों को मिलाने के लिए आमरण अनशन पर बैठा हूँ। मेरी

माँग है कि सावित्री मुझे मिले। यदि नहीं मिलती तो मैं अनशन से इस आत्म-खंड को अपनी नश्वर देह से मुक्त कर दूँगा। मैं सत्य पर हूँ, इसलिए निडर हूँ। सत्य की जय हो!

सावित्री गुस्से से भरी हुई आई थी। बाबा सनकीदास से कहा, यह हरामजादा मेरे लिए अनशन पर बैठा है ना?

बाबा बोले, देवी, उसे अपशब्द मत कहो। वह पवित्र अनशन पर बैठा है। पहले हरामजादा रहा होगा। अब नहीं रहा। वह अनशन कर रहा है।

सावित्री ने कहा, मगर मुझे तो पूछा होता। मैं तो इस पर थूकती हूँ।

बाबा ने शान्ति से कहा, देवी, तू तो 'इशू' है। 'इशू' से थोड़े ही पूछा जाता है। गोरक्षा आन्दोलन वॉलों ने गाय से कहाँ पूछा था कि तेरी रक्षा के लिए आन्दोलन करें या नहीं। देवी, तू जा। मेरी सलाह है कि अब तुम या तुम्हारा पति यहाँ न आँ। एक-दो दिन में जनमत बन जाएगा और तब तुम्हारे अपशब्द जनता बर्दाश्त नहीं करेगी।

वह बड़बड़ाती हुई चली गई।

बन्नु उदास हो गया। बाबा ने समझाया, चिंता मत करो। जीत तुम्हारी होगी। अंत में सत्य की ही जीत होती है।

13 जनवरी

बन्नु भूख का बड़ा कच्चा है। आज तीसरे ही दिन कराहने लगा। बन्नु पूछता है, जयप्रकाश नारायण आये?

मैंने कहा, वे पाँचवें या छठे दिन आते हैं। उनका नियम है। उन्हें सूचना दे दी है।

वह पूछता है, विनोबा ने क्या कहा है इस विषय में?

बाबा बोले, उन्होंने साधन और साध्य की मीमांसा की है, पर थोड़ा तोड़कर उनकी बात को अपने पक्ष में उपयोग किया जा सकता है।

बन्नु ने आँखें बंद कर लीं। बोला, भैया, जयप्रकाश बाबू को जल्दी बुलाओ।

आज पत्रकार भी आये थे। बड़ी दिमाग-पच्ची करते रहे।

पूछने लगे, उपवास का हेतु कैसा है? क्या वह सार्वजनिक हित में है?

बाबा ने कहा, हेतु अब नहीं देखा जाता। अब तो

इसके प्राण बचाने की समस्या है। अनशन पर बैठना इतना बड़ा आत्म-बलिदान है कि हेतु भी पवित्र हो जाता है।

मैंने कहा, और सार्वजनिक हित इससे होगा। कितने ही लोग दूसरे की बीवी छीनना चाहते हैं, मगर तरकीब उन्हें नहीं मालूम। अनशन अगर सफल हो गया, तो जनता का मार्गदर्शन करेगा।

14 जनवरी

बन्नु और कमजोर हो गया है। वह अनशन तोड़ने की धमकी हम लोगों को देने लगा है। इससे हम लोगों का मुँह काला हो जायेगा। बाबा सनकीदास ने उसे बहुत समझाया।

आज बाबा ने एक और कमाल कर दिया। किसी स्वामी रसानंद का वक्तव्य अखबारों में छपवाया है। स्वामीजी ने कहा है कि मुझे तपस्या के कारण भूत और भविष्य दिखता है। मैंने पता लगाया है कि बन्नु पूर्वजन्म में ऋषि था और सावित्री ऋषि की धर्मपत्नी। बन्नु का नाम उस जन्म में ऋषि वनमानुस था। उसने तीन हजार वर्षों के बाद अब फिर नरदेह धारण की है। सावित्री का इससे जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। यह घोर अधर्म है कि एक ऋषि की पत्नी को राधिका प्रसाद-जैसा साधारण आदमी अपने घर में रखे। समस्त धर्मप्राण जनता से मेरा आग्रह है कि इस अधर्म को न होने दें।

इस वक्तव्य का अच्छा असर हुआ। कुछ लोग 'धर्म की जय हो!' नारे लगाते पाए गए। एक भीड़ राधिका बाबू के घर के सामने नारे लगा रही थी—

'राधिका प्रसाद- पापी है! पापी का नाश हो! धर्म की जय हो।'

स्वामीजी ने मंदिरों में बन्नु की प्राण-रक्षा के लिए प्रार्थना का आयोजन करा दिया है।

15 जनवरी

रात को राधिका बाबू के घर पर पत्थर फेंके गए।

जनमत बन गया है।

स्त्री-पुरुषों के मुख से यह वाक्य हमारे एजेंटों ने सुने—

'बेचारे को पाँच दिन हो गए। भूखा पड़ा है।'

'धन्य है इस निष्ठा को।'

'मगर उस कठकरेजी का कलेजा नहीं पिघला।'

‘उसका मरद भी कैसा बेशरम है।’

‘सुना है पिछले जन्म में कोई ऋषि था।’

‘स्वामी रसानंद का वक्तव्य नहीं पढ़ा!’

‘बड़ा पाप है ऋषि की धर्मपत्नी को घर में डाले रखना।’

आज ग्यारह सौभाग्यवतियों ने बन्नू को तिलक किया और आरती उतारी।

बन्नू बहुत खुश हुआ। सौभाग्यवतियों को देख कर उसका जी उछलने लगता है।

अखबार अनशन के समाचारों से भरे हैं।

आज एक भीड़ हमने प्रधानमंत्री के बंगले पर हस्तक्षेप की माँग करने और बन्नू के प्राण बचाने की अपील करने भेजी थी। प्रधानमंत्री ने मिलने से इनकार कर दिया।

देखते हैं कब तक नहीं मिलते।

शाम को जयप्रकाश नारायण आ गए। नाराज थे। कहने लगे, ‘किस-किस के प्राण बचाऊँ मैं? मेरा क्या यही धंधा है? रोज कोई अनशन पर बैठ जाता है और चिल्लाता है प्राण बचाओ। प्राण बचाना है तो खाना क्यों नहीं लेता? प्राण बचाने के लिए मध्यस्थ की कहाँ जरूरत है? यह भी कोई बात है! दूसरे की बीवी छीनने के लिए अनशन के पवित्र अस्त्र का उपयोग किया जाने लगा है।’

हमने समझाया, ‘यह ‘इशू’ जरा दूसरे किस्म का है। आत्मा से पुकार उठी थी।’

वे शान्त हुए। बोले, अगर आत्मा की बात है तो मैं इसमें हाथ डालूँगा।’

मैंने कहा, ‘फिर कोटि-कोटि धर्मप्राण जनता की भावना इसके साथ जुड़ गई है।’

जयप्रकाश बाबू मध्यस्थता करने को राजी हो गए। वे सावित्री और उसके पति से मिलकर फिर प्रधानमंत्री से मिलेंगे।

बन्नू बड़े दीनभाव से जयप्रकाश बाबू की तरफ देख रहा था।

बाद में हमने उससे कहा, ‘अबे साले, इस तरह दीनता से मत देखा कर। तेरी कमजोरी ताड़ लेगा तो कोई भी नेता तुझे मुसम्मी का रस पिला देगा। देखता नहीं है, कितने ही नेता झोलों में मुसम्मी रखे तम्बू के आस-पास घूम रहे हैं।’

16 जनवरी

जयप्रकाश बाबू की ‘मिशन’ फेल हो गई। कोई मानने को तैयार नहीं है। प्रधानमंत्री ने कहा, ‘हमारी बन्नू के साथ सहानुभूति है, पर हम कुछ नहीं कर सकते। उससे उपवास तुड़वाओ, तब शान्ति से वार्ता द्वारा समस्या का हल ढूँढा जाएगा।’

हम निराश हुए। बाबा सनकीदास निराश नहीं हुए। उन्होंने कहा, ‘पहले सब माँग को नामंजूर करते हैं। यही प्रथा है। अब आन्दोलन तीव्र करो। अखबारों में छपवाओ कि बन्नू की पेशाब में काफी ‘एसीटोन’ आने लगा है। उसकी हालत चिंताजनक है। वक्तव्य छपवाओ कि हर कीमत पर बन्नू के प्राण बचाए जाएँ। सरकार बैठी-बैठी क्या देख रही है? उसे तुरन्त कोई कदम उठाना चाहिए जिससे बन्नू के बहुमूल्य प्राण बचाए जा सकें।’

बाबा अद्भुत आदमी हैं। कितनी तरकीबें उनके दिमाग में हैं। कहते हैं, ‘अब आन्दोलन में जातिवाद का पुट देने का मौका आ गया है। बन्नू ब्राह्मण है और राधिका प्रसाद कायस्थ। ब्राह्मणों को भड़काओ और इधर कायस्थों को। ब्राह्मण-सभा का मंत्री आगामी चुनाव में खड़ा होगा। उससे कहो कि यही मौका है ब्राह्मणों के वोट इकट्ठे ले लेने का।’

आज राधिका बाबू की तरफ से प्रस्ताव आया था कि बन्नू सावित्री से राखी बंधवा ले।

हमने नामंजूर कर दिया।

17 जनवरी

आज के अखबारों में ये शीर्षक हैं—

‘बन्नू के प्राण बचाओ!’

बन्नू की हालत चिंताजनक!’

मंदिरों में प्राण-रक्षा के लिए प्रार्थना!

एक अखबार में हमने विज्ञापन रेट पर यह भी छपवा लिया—

‘कोटि-कोटि धर्म-प्राण जनता की माँग—!

बन्नू की प्राण-रक्षा की जाए!’

बन्नू की मृत्यु के भयंकर परिणाम होंगे!’

ब्राह्मण-सभा के मंत्री का वक्तव्य छप गया। उन्होंने ब्राह्मण जाति की इज्जत का मामला इसे बना लिया था। सीधी कार्यवाही की धमकी दी थी।

हमने चार गुंडों को कायस्थों के घरों पर पत्थर

फेंकने के लिए तय कर किया है।

इससे निपटकर वही लोग ब्राह्मणों के घर पर पत्थर फेंकेंगे।

पैसे बन्नू ने पेशगी दे दिए हैं।

बाबा का कहना है कि कल या परसों तक कपर्यु लगवा दिया जाना चाहिए। दफा 144 तो लग ही जाये। इससे 'केस' मजबूत होगा।

18 जनवरी

रात को ब्राह्मणों और कायस्थों के घरों पर पत्थर फिंक गए।

सुबह ब्राह्मणों और कायस्थों के दो दलों में जमकर पथराव हुआ।

शहर में दफा 144 लग गयी।

सनसनी फैली हुई है।

हमारा प्रतिनिधि मंडल प्रधानमंत्री से मिला था उन्होंने कहा कि "इसमें कानूनी अड़चने है विवाह—कानून में संशोधन करना पड़ेगा।" हमने कहा तो संशोधन करवा दीजिये। अध्यादेश जारी करवा दीजिये। अगर बन्नू मर गया तो सारे देश में आग लग जायेगी।

वे कहने लगे, 'पहले अनशन तुड़वाओ?'

हमने कहा, 'सरकार सैद्धांतिक रूप से माँग को स्वीकार कर ले और एक कमिटी बिठा दे, जो रास्ता बताये कि वह औरत इसे कैसे मिल सकती है।'

सरकार अभी स्थिति को देख रही है। बन्नू को और कष्ट भोगना होगा।

मामला जहाँ का तहाँ रहा। वार्ता में 'डेडलॉक' आ गया है।

छुटपुट झगड़े हो रहे हैं।

रात को हमने पुलिस चौकी पर पत्थर फिंकवा दिए। इसका अच्छा असर हुआ।

'प्राण बचाओ'— की माँग आज और बढ़ गयी।

19 जनवरी

बन्नू बहुत कमजोर हो गया है। घबड़ाता है। कहीं मर न जाए।

बकने लगा है कि हम लोगों ने उसे फंसा दिया है। कहीं वक्तव्य दे दिया तो हम लोग 'एक्सपोज' हो जायेंगे।

कुछ जल्दी ही करना पड़ेगा। हमने उससे कहा कि अब अगर वह यों ही अनशन तोड़ देगा तो जनता उसे मार डालेगी।

प्रतिनिधि मंडल फिर मिलने जाएगा।

20 जनवरी

'डेडलॉक'

सिर्फ एक बस जलाई जा सकी।

बन्नू अब सम्मल नहीं रहा है।

उसकी तरफ से हम ही कह रहे हैं कि 'वह मर जाएगा, पर झुकेगा नहीं!'

सरकार भी घबराई मालूम होती है।

साधुसंघ ने आज माँग का समर्थन कर दिया।

ब्राह्मण समाज ने अल्टीमेटम दे दिया। 10 ब्राह्मण आत्मदाह करेंगे।

सावित्री ने आत्महत्या की कोशिश की थी, पर बचा ली गयी।

बन्नू के दर्शन के लिए लाइन लग रही है।

राष्ट्रसंघ के महामंत्री को आज तार कर दिया गया।

जगह—जगह प्रार्थना सभाएँ होती रहीं।

डॉ. लोहिया ने कहा है कि जब तक यह सरकार है, तब तक न्यायोचित माँगें पूरी नहीं होंगी। बन्नू को चाहिए कि वह सावित्री के बदले इस सरकार को ही भगा ले जाए।

21 जनवरी

बन्नू की माँग सिद्धांततः स्वीकार कर ली गयी। व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने के लिए एक कमेटी बना दी गई है।

भजन और प्रार्थना के बीच बाबा सनकीदास ने बन्नू को रस पिलाया। नेताओं की मुसम्मियाँ झोलों में ही सूख गईं। बाबा ने कहा कि जनतंत्र में जनभावना का आदर होना चाहिए। इस प्रश्न के साथ कोटि—कोटि जनों की भावनाएँ जुड़ी हुई थीं। अच्छा ही हुआ जो शान्ति से समस्या सुलझ गई, वर्ना हिंसक क्रान्ति हो जाती।

ब्राह्मण सभा के विधानसभाई उम्मीदवार ने बन्नू से अपना प्रचार कराने के लिए सौदा कर लिया है। काफी बड़ी रकम दी है। बन्नू की कीमत बढ़ गयी।

चरण छूते हुए नर—नारियों से बन्नू कहता है, 'सब ईश्वर की इच्छा से हुआ। मैं तो उसका माध्यम हूँ।'

नारे लग रहे हैं — सत्य की जय! धर्म की जय!

शेक्सपीयर और आज का समय

मोहन श्रोत्रिय

शेक्सपीयर के नाटक टिमान्स ऑफ एर्थेंस की ये बहु-उद्धृत पंक्तियाँ मुझे केवल इसलिए प्रिय नहीं हैं कि ये प्रसिद्ध दार्शनिक कार्ल मार्क्स को बेहद प्रिय थीं। कार्ल मार्क्स ने बेशक इन्हें इकनॉमिकल एण्ड फिलॉसोफिकल मैनस्क्रिप्ट ऑफ 1844 में उद्धृत किया था। यों तो यह तथ्य भी सामान्य जानकारी के दायरे में है कि मार्क्स के परिवार में सब लोग शाम को बैठ कर अन्ताक्षरी खेलते थे, जिसमें सिर्फ शेक्सपीयर की पंक्तियाँ ही सुनानी होती थीं। मुझे इन पंक्तियों ने न जाने कब से गिरफ्त में ले रखा है! शायद पचास साल से, जब पहली बार मैंने इन्हें पढ़ा था। पहली से पचासवीं बार कब निकल गई यह भी याद नहीं। शेक्सपीयर इन पंक्तियों में एक भविष्य-द्रष्टा (प्रॉफेट) के रूप में सामने आते हैं। यों हर बड़ा साहित्यकार अपने समय का अतिक्रमण करके अपनी प्रासंगिकता कायम करता है, पर इन पंक्तियों को ध्यान से पढ़ कर आप भी इस बात से सहमत होंगे कि 'काल का ऐसा अतिक्रमण' अत्यंत विरल है। 'सोना' एक धातु के रूप में और 'पैसा' – धन' (मुद्रा) – के रूप में आज कितना बलशाली हो गया है यह हम सब अपनी-अपनी तरह से जानते हैं। या कहें हमें जानना चाहिए। पर आज से साढ़े चार सौ साल पहले यह देख पाना कि पूँजीवाद की चरम अवस्था में यह (सोना) क्या-क्या गुल खिला सकता है, कत्तई आसान काम नहीं था। इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि शेक्सपीयर नवजागरण काल में, पूँजी की बीज-सामर्थ्य को, उसके विकसित रूप को कैसे प्रक्षेपित कर पाने की क्षमता से संपन्न-समृद्ध थे।

आखिरी पंक्ति तक पहुँचते-पहुँचते, आप देखेंगे कि शेक्सपीयर "संसार पर हैवानों के राज" की भविष्यवाणी करते हैं। जरा आज के वैश्विक दृश्य-पटल पर नजर डालिए और देखिए कि राज किसका चल रहा है।

“सोना? पीला, चमचमाता, बहुमूल्य सोना?”

नहीं, देवताओं, मैं नहीं झूठा उपासक! ...
इतना-सा सोना बनाता स्याह को सफेद, अनुचित को उचित,
निकृष्ट को उदात्त, वृद्ध को तरुण, कायर को नायक!
... यह छीन लेता तुमसे तुम्हारे पुजारी और सेवक,
खींच लेता तकिये बलवानों के सिर के नीचे से,
यह पीत दास
जोड़ता-तोड़ता धर्मों को, अभिशप्तों को देता वरदान,
जीर्ण कोढ़ी को बनाता उपास्य, दिलाता चोरों को सम्मान,
और पदवी, अवलम्ब, सभासदों के बीच स्थान
यह क्रन्दन करती विधवा को फिर बना देता दुल्हन;
रिसते नासूर तथा अस्पताल भी भागें जिससे दूर,
कर देता उसे सुरभित, पुष्पित;
पीछे मुड़, अभिशप्त धरती, गणिका सारे जगत की,
कारण राष्ट्रों के युद्धों, वैमनस्य का...”
“राजाओं का मधुर हत्यारा!
बच्चों से पिता का नाता प्यार से तोड़ता तू,

दंपति की पवित्र शय्या का दूषणकर्ता,
शूरवीर युद्ध देवता, तू!
चिर तरुण, चिर नूतन,
प्रणय-पात्र, प्रणय-याचक सुकोमल,
डियान' की गोदी का पावन हिम
तेरी लज्जारुणिमा से जाता पिघल!
तू प्रत्यक्ष भगवान
असम्भव है जिन्हें करना संलग्न,
उन्हें देता तू जोड़, बाध्य कर देता
उन्हें लेने को एक दूसरे का चुम्बन!
हर उद्देश्य के लिए, हर भाषा बोलने वाला तू,
ओ हृदय को छूने वाले, जरा सोच यह,
दास तेरा करता विद्रोह, तेरे बूते पर
उनमें होता कलह, रक्तपात,
ताकि संसार पर हो जाये हैवानों का राज!”

रामायण की विपुलता और एक विश्वविद्यालय की दरिद्रता

रोमिला थापर

(दिल्ली विश्वविद्यालय की विद्वत्परिषद ने बीए (आनर्स) के पाठ्यक्रम से रामकथा पर ए. के. रामानुजन के सुविख्यात निबन्ध को हटाने का फैसला किया है। इतिहासकारों और विद्वानों ने इस फैसले का तीव्र विरोध किया है। तीन साल पहले हिन्दुत्ववादी छात्र शाखा एबीवीपी ने इस निबन्ध को पढ़ाये जाने का विरोध करते हुए दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में तोड़-फोड़ की थी। उसके तीन साल बाद लिये गये इस निर्णय को राजनीतिक दबाव के आगे अकादमिक स्वतंत्रता का समर्पण मानते हुए इसकी आलोचना हो रही है।

प्राचीन भारतीय इतिहास की अग्रगण्य विशेषज्ञ रोमिला थापर ने इस निर्णय के बारे में, विद्वता और ज्ञान पर पड़ने वाले इसके दुष्परिणामों के बारे में तथा निहित स्वार्थों के चलते हिन्दू सांस्कृतिक धरोहर और धार्मिक परम्पराओं के केवल एक ही वृत्तान्त को बाकी सभी वृत्तान्तों के ऊपर थोपने की कोशिशों के बारे में प्रिशिला जेबराज के साथ चर्चा की। यह आलेख उसी बातचीत पर आधारित है। यह 28 अक्टूबर 2011 के 'द हिन्दू' में प्रकाशित हुआ था, जिसका अनुवाद यहाँ आभार सहित प्रस्तुत किया जा रहा है। अनु.—दिनेश प्रखर)

आपने बताया कि सिर्फ इसलिए कि इसमें दिल्ली विश्वविद्यालय का इतिहास विभाग और विद्वत्परिषद शामिल है, इसे महज इतिहास और विद्वता का मामला नहीं माना जा सकता। इसके पीछे एक राजनीतिक पृष्ठभूमि है।

मेरी समझ से राजनीतिक पृष्ठभूमि इसलिए है कि इस निबन्ध के खिलाफ शुरुआती हमला 2008 में एबीवीपी ने किया था। यह हमला इस बात को सुनिश्चित करने के बाद किया गया था कि ज्यों ही वे विरोध प्रदर्शन शुरू करेंगे, टीवी कैमरे उस विरोध की रिकार्डिंग सही ढंग से पूरा करेंगे।

उनकी माँग थी कि यह निबन्ध हिन्दू समुदाय कि यह निबन्ध हिन्दू समुदाय की भावनाओं को आहत करता है, इसलिए इसे वापस लेना चाहिए। यह कोई अकादमिक माँग नहीं है। यह एकदम साफ है कि जिस तरीके से विरोध आयोजित किया गया वह इतिहास विभाग और इस निबन्ध—विशेष के खिलाफ राजनीतिक विरोध की कार्रवाई थी।

विश्वविद्यालय ने शुरू-शुरू में अकादमिक रुख अपनाया और इस निबन्ध को पाठ्यक्रम से हटाने या न हटाने का निर्णय करने के लिए उसने चार इतिहासकारों की एक समिति नियुक्त की। उनमें से तीन विशेषज्ञों ने साफ-साफ कहा कि इसे किसी भी हालत में हटाना नहीं चाहिए। मजेदार बात यह कि जिस एक सदस्य की राय भिन्न थी, उन्होंने भी यह नहीं कहा कि इससे हिन्दू समुदाय की भावनाएँ आहत होती हैं। उनकी राय थी कि यह स्नातक

कक्षा में पढ़ाने के लिए इसलिए अनुपयुक्त है, क्योंकि स्नातक के विद्यार्थी इसके पाठान्तरों और उनकी अर्थछटाओं इत्यादि से जुड़े सवालों को समझ नहीं पायेंगे।

यह मामला अदालत में चला गया, विशेषज्ञों की इस राय के बावजूद इस मामले को विद्वत्परिषद को सौंप दिया गया और जैसी जानकारी मुझे मिली, उसके सदस्यों को पहले से ऐसा कोई संकेत भी नहीं दिया गया कि बैठक में इस मुद्दे पर विचार—विमर्श किया जायेगा। इसलिए बिना तैयारी के, अचानक बैठक में पहुँचे लोगों को ही इस या उस फैसले तक पहुँचना था। विश्वविद्यालय की इस शुरुआती कार्रवाई और प्रतिक्रिया से यह सवाल उठ खड़ा होता है कि क्या प्राध्यापकों को पीटने और विभाग में तोड़-फोड़ करने वाले लोगों के दबाव में पाठ्यक्रम और विषय को बदला जा सकता है? और मेरी समझ से यही वह बुनियादी सवाल है जिसका अकादमिक जगत को सामना करना है। उन्हें इसका जवाब देना है और इस पर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना है।

रामानुजन ने रामायण के कई पाठान्तरों की चर्चा की है जिनमें वाल्मीकि रामायण और कम्ब रामायण भी शामिल है। शायद इन दोनों ही राम—कथाओं में हिन्दू कट्टरपंथियों को परेशान करने वाले तत्व मौजूद हैं। वे रामकथा के किस वृत्तान्त का समर्थन कर रहे हैं?

मुझे लगता है कि उनमें से किसी ने वाल्मीकि रामायण को पूरा नहीं पढ़ा होगा... उनमें से आर्थों ने तो कम्ब रामायण का नाम भी नहीं सुना होगा।

वे किस चीज का समर्थन कर रहे हैं? वाल्मीकि रामायण के बारे में अपनी उस धारणा का, जो किंवदन्तियों पर आधारित है। इस बात पर कोई भी झल्ला उठेगा कि ऐसे-ऐसे लोग हैं जो किसी मुद्दे को पढ़ने और जानने-समझने की जहमत मोल नहीं लेते। कुछ भी जानने से पहले ही वे उठ खड़े होते हैं और छाती पीट-पीटकर चिल्लाना शुरू कर देते हैं और उस मुद्दे को खारिज कर देने को उतावले हो जाते हैं। लोग इस बात को नहीं जानते कि राम की कहानी जिसे हम रामायण कहते हैं, इतिहास में दीर्घकाल से चली आ रही है। वाल्मीकि द्वारा पहली बार लिखा गया रामायण और कम्ब के रामायण में हजारों सालों का फासला है। इसके विभिन्न क्षेत्रीय रूपों पर भी निरन्तर शोध किया गया है। इसलिए इनमें भिन्नता होना लाजमी है। जिस क्षण कोई व्यक्ति कहानी का नया संस्करण लिखना शुरू करता है, भले ही वह किसी खास संस्करण पर निर्भर होता है, मूल रामायण में कुछ न कुछ नया भी जोड़ता है। यही किसी महाकाव्य की अपरिहार्य बुनावट होती है।

जब कोई ग्रन्थ जनता को अपनी ओर आकृष्ट करता है तो कुछ चीजें इसमें जुड़ती हैं और कुछ छंटती जाती हैं। यह लुढ़कते हुए बर्फ के गोले के समान होता है जो कुछ लेता और कुछ छोड़ता लगातार बढ़ता चलता है।

किसी महाकाव्य की ऐसी बुनावट को देखते हुए, क्या मुख्यधारा के लोगों के दिमाग में रामायण के किसी खास संस्करण को अन्तिम और एकमात्र संस्करण के रूप में स्थापित करना खतरानाक नहीं है? एक बार दूरदर्शन के धारावाहिक रामायण से सम्बंधित ऐसे ही खतरे के बारे में आपने बताया था...

बिलकुल। आपको इस तथ्य पर जोर देना होगा कि इसके कई-कई वृत्तान्त थे, अथवा लोगों में इस कहानी के केवल एक ही संस्करण पर अड़े रहने की प्रवृत्ति मौजूद थी अथवा यह कि जैसे वही इस कहानी का एकमात्र और अंतिम संस्करण था। जिस समय वाल्मीकि रामायण लिखी गयी उस समय इसके दो अन्य संस्करण प्रचलित थे, जो एक मामले में एक दूसरे से पूर्णतः अलग थे और दूसरे मामले में बहुत ही अलग थे।

जिसे बौद्ध जातक तथा दशरथ जातक कहा जाता था, जिसमें राम और सीता भाई-बहन होते हैं और साहचर्य में शासन करते हैं। अब यह बौद्ध परम्परा से आने वाले मिथकों में पूरी तरह व्याप्त है तथा वास्तव में राम

और सीता के सर्वोपरी हैसियत के बारे में बताता है। अशिक्षित लोगों द्वारा इसे गलत तरीके से व्याख्यायित किया गया है, जो चारों ओर घूम-घूम कर इस वृत्तान्त का उल्लेख करने वाले इतिहासकारों के ऊपर चीखते-चिल्लाते हैं, क्योंकि इसमें राम और सीता के साहचर्य की बात कही गयी है।

जैन राम-कथा, जिसके बारे में रामानुजन ने भी टिप्पणी की है, बहुत ही दिलचस्प है, क्योंकि लेखक विमलासुरी शुरुआत ही यह कहते हुए करते हैं कि "राम कथा का जो संस्करण आप अब तक सुनते आ रहे हैं वह पूरी तरह झूठी और गलत है तथा मूर्ख लोगों द्वारा लिखा गया है। मैं आपको असली कहानी सुनाऊँगा।" और वह सही स्थिति बताने के लिए ऐतिहासिक राजा सृनिका के दरबार में जाते हैं... और कहते हैं कि राक्षसों को दैत्य के रूप में चित्रित करना बेवकूफी है, कि वे पूर्णतः सामान्य मानव रहे हैं। दूसरे शब्दों में विमलासुरी का वृत्तान्त वाल्मीकि के काल्पनिक रामायण की तार्किक व्याख्या करने की कोशिश है और इसलिए इन दोनों संस्करणों को एक साथ पढ़ना मनोहर है।

फिर आखिर ऐसा क्या हुआ कि वाल्मीकि रामायण हिन्दू संस्कृति की मुख्य धारा बन गई?

यह आंशिक रूप से संस्कृत साहित्य को अत्यधिक प्रधानता देने की परम्परा के कारण हुआ, क्योंकि लम्बे समय तक यही मुख्य सांस्कृतिक परम्परा बनी रही। लेकिन साथ ही उपनिवेशवादी विद्वानों ने इसे ही अन्तिम और एकमात्र पाठ के रूप में बढ़ावा दिया।

उपनिवेशवाद के बाद के युग में विद्वत्परिषद ने इस अवधारणा पर सवाल उठाया लेकिन क्या इस समाज के बड़े घरे में व्याप्त इस सोच को बदलने के लिए ऐसा कोई कदम उठाया गया ?

नहीं, ऐसा नहीं किया गया और मैं इसके लिए विजुअल मीडिया को दोष देती हूँ। क्योंकि उसने हमारी सांस्कृतिक विरासत में हरेक प्रमुख ग्रन्थ को एकमात्र अंतिम संस्करण के रूप में आरोपित किया और इस सच्चाई को नजर अन्दाज किया कि रामकथा के कई वृत्तान्त मौजूद रहे हैं।

लेकिन आप देखते हैं कि यह सब विद्वत्परिषद से ही शुरू हुआ। इस पूरी कहानी में सबसे अधिक परेशान करने वाली चीज यह है कि इस देश के एक बड़े विश्वविद्यालय में एक ऐसा विद्वत्परिषद है, जो इस मुद्दे

पर दो घंटे तक बहस करती है तथा 90 मत रामानुजन के खिलाफ और 10 मत उनके पक्ष में पड़ते हैं। उनमें से कोई एक वहाँ बैठे-बैठे यह सोचता है कि रामानुजन के निबंध का विरोध करने वाले 90 प्रतिशत लोगों में से कितने लोगों ने इसे पढ़ने की जहमत मोल ली। विद्वत्परिषद में बहुत से लोगों को इसकी जानकारी भी नहीं थी कि इस पुस्तक की विषयवस्तु क्या है, सिवाय इसके कि वे एक बार फिर किंवदन्तियों से संचालित हो रहे थे।

कोई इसके विरोध में उठ खड़ा होता है और तब एक समूह उसे घेर लेता है और कहता है 'अच्छा, अगर ये मामला है, तो निश्चित ही हमें इसकी भर्त्सना करनी चाहिए' इसलिए एक रूप में... जो चीज हमने इस देश में गँवायी है वह है पढ़ने की आदत। हम जाकर मूल लेखों को नहीं पढ़ते। या तो हम उन्हें टीवी पर देखते हैं या अमर चित्र कथा में।

मैं नहीं जानती कि इस मामले को लेकर दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति की क्या राजनीति हो सकती है अथवा उन 90 सदस्यों की जिन्होंने रामानुजन के निबंध को हटाने के लिए मत दिये उनकी क्या राजनीति हो सकती है।

लेकिन निश्चित रूप से इसमें कोई न कोई राजनीतिक तत्त्व है। इसमें भी एक राजनीति है जब (अ) कहता है कि मेरी पार्टी इसके विरुद्ध नहीं है और इसलिए हम समर्थन करें तो वह इसे पसन्द ही करेगी। अथवा (ब) यह मेरी चिंता का विषय नहीं है। यह एक राजनितिक मामला है, विद्वत्परिषद कोई निर्णय ले इसीलिए तो हम यहाँ एकत्र हुए हैं, इसीलिए कुछ ही लोगों ने इसमें अपना वोट नहीं दिया अथवा (स) इसमें कोई सकारात्मक भूमिका मत निभाओ क्योंकि कल जब तुम पर बन आयेगी तो कोई भी तुम्हारी सहायता नहीं करेगा।

शायद विद्वत्परिषद को याद दिलाना चाहिए कि प्रत्येक विद्वान के लिए प्रचलित ज्ञान पर सवाल उठाना आवश्यक है, क्योंकि यही एक मात्र तरीका है, जिससे ज्ञान आगे बढ़ता है।

कमिटी में एक मात्र विशेषज्ञ जिन्होंने कहा कि यह निबंध स्नातक शिक्षा के लिए उपयुक्त नहीं है, उन्हें लगा कि अध्यापक इसकी पृष्ठभूमि की उपयुक्त व्याख्या नहीं कर पायेंगे। आखिर किस बिंदु पर जाकर हम यह तय करेंगे कि अब इसे पढ़ाना उपयुक्त होगा?

स्पष्टतः मैं यही मानती हूँ कि, यदि आप कहते हैं कि अध्यापक इसकी व्याख्या नहीं कर पायेंगे, तो तब आपने ऐसे अध्यापकों को क्यों नियुक्त किया। और आपने उन्हें इस प्रकार प्रशिक्षित क्यों किया कि वे किसी मूल पाठ के अलग-अलग पाठान्तरों की व्याख्या ही न कर पायें।

क्या यह मुद्दा विद्वत्परिषद के राय बनाने लायक था या सिर्फ इसे इतिहास विभाग के जिम्मे छोड़ देना चाहिए था?

इसे इतिहास विभाग के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए था, लेकिन मैं महसूस करती हूँ की विद्वत्परिषद के हाथ-पाँव सुन्न पड़ गये, क्योंकि यह मामला अदालत में पहुँच चुका था।

यह बताया गया की रामानुजन खुद इतिहासकार नहीं हैं, बल्कि वे एक कवि और लोक-कथा विशेषज्ञ हैं। जब यह सुझाव आया कि वे इसकी जगह मेरा (रोमिला थापर) अथवा आर.एस. शर्मा का निबंध लगा दें। क्योंकि हम दोनों इतिहासविद हैं। फिर यह बात आई कि अन्तःविषयक जानकारी का भी अपना महत्त्व है।

वास्तव में यह बहुत ही रचनात्मक निबंध है। हम सभी ने इस विषय पर लिखा है... परन्तु रामानुजन के निबंध में अच्छी बात यह है कि आपको इसमें एक नया नजरिया मिलता है और यही चीज विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार की पाठ्य सामग्री में जिसमें आप विस्तृत संस्कृति के विषय में अध्ययन करते हैं आपको हर बार नये परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता होती है।

किसी व्यापक मसले के प्रति अंतःविषयक दृष्टिकोण क्या एक अच्छी चीज नहीं है? क्या उन विषयों में परिप्रेक्ष्य हासिल करना अच्छा नहीं जो इतिहास के दायरे से बाहर हैं?

ऐसा नहीं कि भौतिकी के प्राध्यापक को इस निबंध को पढ़ने, सवाल पूछने या विभिन्न निष्कर्षों तक पहुँचने की मनाही है लेकिन जिस तरह से इतिहास का प्राध्यापक भौतिकी के पाठ्यक्रम में हस्तक्षेप नहीं करता वैसे ही कोई यह उम्मीद नहीं करता कि कोई भौतिकी का प्राध्यापक इतिहास के पाठ्यक्रम में दखल दे।

बहुविषयिकता पर पूरी बहस में मजेदार चीज यह है की हमेशा सामाजिक विज्ञानों पर ही हमला बोला जाता है। विज्ञान पर कभी आघात नहीं किया गया क्योंकि लोग यह कहकर अपना मजाक उड़वाने से डरते हैं की इसमें

पढ़ाने लायक कोई चीज नहीं है। इसलिए विज्ञान पर कोई भी व्यक्ति सवाल नहीं उठाता।

लेकिन सामाजिक विज्ञान पर टिप्पणी करने के लिए दुनिया भर के लोग मुस्तैद रहते हैं। कुछ मामलों में तो उस विषय की जानकारी के बिना भी। ऐसा माना जाता है की इन विषयों का विशेषज्ञ बनने की कोई जरूरत नहीं है, यह सब तो सहज ज्ञान है।

बहुत से भारतीयों के लिए यह मुद्दा प्राचीन पौराणिक कथाओं पर चलने वाली अकादमिक बहस मात्र नहीं, बल्कि उनकी अपनी धार्मिक आस्थाओं का मामला है। क्या इस आधार पर किसी को कोई छूट देने की जरूरत है।

आपकी बात काफी हद तक ठीक है कि यह केवल पौराणिक कथा ही नहीं बल्कि धर्म भी है। मैं इतिहास में कुछ पीछे जाने और बताने की इजाजत चाहूँगी कि शुरुआत में बहुत से विद्वान यह मानते थे कि रामायण और महाभारत नायकों के महाकाव्य मात्र थे और कुछ समय तक यही धारणा कायम रही। और फिर जब राम और कृष्ण को विष्णु का अवतार बना दिया गया, तब ये पवित्र साहित्य में बदल गये। हमारे पास पुणे के वी. एस. शुक्थांकर का एक बेहतरीन विश्लेषण भी है, जिसमें भ्रगु ब्राह्मणों द्वारा इन ग्रन्थों को भागवत साहित्य में बदले जाने के बारे में बताया गया है। इन नायकों को विष्णु के अवतार में बदल कर और इन्हें पवित्र साहित्य बना दिया गया। आज ये पवित्र साहित्य माने जा रहे हैं, लेकिन इनका उद्गम स्रोत वास्तव में वहाँ है नहीं।

दूसरे, अगर यह पवित्र साहित्य हैं भी तो यह मूल रूप से पौराणिक कथाओं पर आधारित है। मेरा मतलब है कि यह बौद्ध व जैन धर्म से बहुत ही अलग है, जिनकी कहानियों में मिथक हैं, कई प्रकार के मिथक हैं लेकिन साथ ही उन इतिहास निर्माताओं और उनके द्वारा दी गयी शिक्षाओं के पुख्ता ऐतिहासिक सबूत हैं। लेकिन यह एक अलग प्रसंग है।

यह इस्लाम अथवा इसाईयत से भी भिन्न है जहाँ लोग किताबों के साथ हैं और वे मानते हैं किताब ही सत्य है। अधिकतर हिन्दू इसमें विश्वास नहीं रखते।

औपनिवेशिक काल में एक और संकट सामने आया जब यूरोपीय कानून के अनुसार उन्होंने कानूनी अदालतें बनवायी और कहा कि यूरोपीय कानून के मुताबिक आप बाइबल पर हाथ रखकर कसम खाइये। तब वे, इधर—उधर पूछने के लिए गये की हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तक कौन

सी है। और तरह—तरह के जवाब आये— भगवद गीता, रामायण और वेद, क्योंकि यहाँ कोई एक पवित्र पुस्तक नहीं बल्कि यहाँ नाना प्रकार की धार्मिक पुस्तकों की भरमार है। एकबार फिर यहाँ विविधता का सवाल आता है। यहाँ कौन आदमी किस धार्मिक किताब को प्राथमिक मानता है?

पिछले कुछ दशकों से क्या हम उसी तरह का बदलाव नहीं देख रहे हैं, जैसा की सुक्थांकर ने प्रस्तुत किया था कि लोगों का एक समूह जानबूझ कर पवित्र हिन्दू साहित्य के संस्करणों का निर्माण करने में जुटा है?

हाँ, वास्तव में, हिन्दू विश्वास या पूजा पाठ को पवित्र ग्रंथों पर आधारित बनाने का यह प्रयास हो रहा है।

रामानुजन कुछ अंतरराष्ट्रीय भिन्नताओं पर भी प्रकाश डालते हैं...

उदाहरण के लिए दक्षिण पूर्वी एशिया, जहाँ रामायण पूरी तरह संस्कृति का एक आधारभूत पाठ है। लेकिन यह वाल्मीकि रामायण का नहीं, बल्कि उनका अपना संस्करण है। दक्षिण पूर्वी एशिया के बहुत से संस्करणों में कहानी का एक मूलभूत हिस्सा यह है कि सीता रावण की बेटी है और रावण को यह नहीं मालूम, क्योंकि वह रहस्यमय तरीके से उससे दूर कर दी गयी थी। तो आप क्या करेंगे ? मेरा मतलब, क्या ये लोग जकार्ता के विश्वविद्यालयों या तमाम ऐसी जगहों पर प्रहार करने जायेंगे क्योंकि वे इन संस्करणों को पढ़ा रहे हैं।

और यही वह समय है जब हम भारतीय संस्कृति को फँलाना और विश्वव्यापी बनाना चाहते हैं।

मुझे यह बड़ा व्यंग्यपूर्ण लगा कि यह घटना दिल्ली में उसी हफ्ते घट रही थी, जब मानव संसाधन विकास मंत्री संयुक्त राष्ट्र में बैठकर विश्व के शीर्षस्थ विश्वविद्यालयों को भारत में अपनी शाखाएँ खोलने के लिए मनाने की कोशिश कर रहे थे। रामानुजन शिकागो विश्वविद्यालय के सर्वाधिक सम्मानित विभागीय सदस्यों में से एक थे, और मानव संसाधन विकास मंत्रालय शिकागो विश्वविद्यालय को भारत में अपना परिसर स्थापित करने के लिए सादर आमंत्रित करेगा। अब यदि इस समय रामानुजन जीवित होते और शिकागो विश्वविद्यालय का एक परिसर दिल्ली में स्थापित होता और तब यह सब घटनाएँ घटतीं जो पूरी तरह सम्भव है, तो क्या प्रतिक्रिया होती ? यह पूरी घटना अनोखी है।

भगत सिंह और पेरियार : दो समानधर्मा युगदृष्टा

दक्षिण भारत में सामाजिक-आर्थिक समानता के अग्रदूत पेरियार ई. वी. रामास्वामी भगत सिंह के समकालीन थे और उम्र में उनसे 28 साल बड़े थे। भगत सिंह के विचारों के वे प्रबल समर्थक थे। हाल ही में प्रो. चमन लाल और एस. इरफान हबीब ने अपने शोध-कार्यों के दौरान इस बात के दस्तावेजी प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

पेरियार की सबसे बड़ी विशेषता उनकी स्पष्टवादिता थी, जो भगत सिंह से सम्बंधित उनके विचारों में भी स्पष्ट दिखाई देती है। 29 मार्च 1931 को तमिल साप्ताहिक कुडियारासु के सम्पादकीय में पेरियार ने भगत सिंह और गाँधी की तुलना करते हुए भगत सिंह के विचारों के साथ अपनी सहमति जतायी थी। उन्होंने लिखा— जिस दिन गाँधी ने कहा कि केवल ईश्वर ही उनका मार्गदर्शन करता है, दुनिया को चलाने में वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था ही उचित है और हर काम भगवान की इच्छा के अनुसार ही होता है, उसी दिन हम इस निष्कर्ष पर पहुँच गये की गाँधीवाद और ब्राह्मणवाद में कोई अंतर नहीं है। हम इस नतीजे पर भी पहुँचे कि अगर ऐसे दर्शन को मानने वाली कांग्रेस पार्टी का खात्मा नहीं होता तो यह देश के लिए अच्छा नहीं होगा और अब यही सच्चाई कम से कम कुछ लोगों को हासिल हो गयी है। उन्होंने गाँधीवाद के पतन का आह्वान करने का विवेक और साहस हासिल कर लिया है। यह हमारे उद्देश्य की बहुत बड़ी जीत है।

यदि भगत सिंह फाँसी चढ़कर प्राण नहीं गँवाते तो यह जीत इतनी लोकप्रियता के साथ हासिल नहीं होती। हम यह कहने का भी साहस करते हैं कि अगर उन्हें फाँसी नहीं होती तो गाँधीवाद की जमीन और पुख्ता होती।

जैसा की आमतौर पर लोगों के साथ होता है, भगत सिंह न बीमार पड़े, न पीड़ित हुए और न ही मरे। उन्होंने न केवल भारत को, बल्कि दुनिया को भी असली बराबरी और शान्ति की राह दिखाने के लिए, पवित्र उद्देश्य के लिए अपना जीवन न्यौछावर किया। वे उन्नत शिखर तक पहुँच गये। हम अपने हृदय की गहराई से उनकी शहादत की प्रशंसा और गुणगान करते हैं।

पेरियार ने भगत सिंह द्वारा पंजाब के गवर्नर को लिखे उस पत्र का भी हवाला दिया जिसमें उन्होंने नास्तिकता और समाजवाद के विचारों में अपना विश्वास व्यक्त किया था। अदालत में बयान देते हुए भगत सिंह ने कहा था इस सभ्यता की विराट इमारत को यदि समय रहते बचाया नहीं गया तो यह बहुराकर ढह जायेगी। इसलिए एक आमूल परिवर्तन जरूरी है और जिन लोगों को इस बात का अहसास है उनका यह कर्तव्य है कि समाजवाद की बुनियाद पर इस समाज का पुनर्गठन करें। अगर ऐसा नहीं किया गया तो आज मानवता के सामने जिस दुस्सहः पीड़ा और नरसंहार का खतरा मंडरा रहा है उसे रोका नहीं जा सकता। भगत सिंह के इन विचारों से सहमति जताते हुए पेरियार ने लिखा था कि छुआ-छूत को खत्म करने के लिए हमें ऊपरी और निचली जाति के सिद्धांत को खत्म करना होगा। इसी तरह गरीबी मिटाने के लिए हमें पूँजीवाद और मजदूरी के सिद्धांत से छुटकारा पाना होगा। इसलिए समाजवाद और साम्यवाद कुछ और नहीं, बल्कि इन अवधारणाओं और व्याख्याओं से निजात पाना ही है। यही वे सिद्धांत हैं जिनकी हिमायत भगत सिंह करते थे।

पेरियार का मानना था कि ऐसे विचारों को मानना किसी भी कानून के तहत अपराध नहीं है। यदि यह किसी कानून के खिलाफ भी समझा जाता है तो किसी को इससे डरने की जरूरत नहीं है क्योंकि हमें पूरा यकीन है कि इन सिद्धांतों का पालन करने से (जिन्हें भगत सिंह सही मानते थे) जनता को कोई हानि नहीं होगी या कोई नुकसान नहीं पहुँचेगा। हम इन सिद्धांतों को व्यवहार में उतारने का प्रयास कर रहे हैं।

निष्कर्ष के तौर पर उन्होंने अपने सम्पादकीय में लिखा था—हमारी यह पक्की राय है कि भारत में सिर्फ भगत सिंह के विचारों की ही जरूरत है।

आज के इस कठिन दौर में न्याय और समता पर आधारित समाज के सपने को साकार करने में लगे लोगों के लिए इन दोनों युगदृष्टाओं के विचार और जीवन प्रेरणास्पद हैं।

धरती पर गूँजी सात अरबवें बच्चे की किलकारी

31 अक्टूबर 2011 को दुनिया की आबादी 7 अरब हो गयी है। लखनऊ की नर्गिस को दुनिया का सात अरबवाँ बच्चा घोषित किया गया। "हम सात अरब हो गये हैं।" मीडिया ने इस बात का खूब प्रचार-प्रसार किया। साथ ही इस बीच जनसंख्या वृद्धि को लेकर हायतौबा मचाने और दुनिया की तमाम मुसीबतों- गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी प्राकृतिक संसाधनों की कमी और पर्यावरण संकट की वजह बढ़ती आबादी के मत्थे मढ़ने का काम भी जोर-शोर से किया गया। जिधर सुनिए उधर एक ही रट-बढ़ती जनसंख्या ही सारी मुसीबतों की जड़ है। अब सात अरब लोगों का इस धरती पर भला कैसे गुजारा होगा।

पूँजीवादी शासक वर्ग और उसके नुमाइन्दे बहुसंख्य आबादी को रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य और शुद्ध पेयजल जैसी जरूरतें पूरी कर पाने में अपनी अयोग्यता को छिपाने के लिए सारा दोष हमेशा जनता पर मढ़ते रहते हैं। बहुसंख्य आबादी के मनमस्तिष्क में वे यह अपराधबोध बैठा देना चाहते हैं कि पूँजीवादी समाज की सभी बीमारियों की वजह निजी मुनाफे संचालित पूँजीवादी तंत्र का लोभ-लालच और मुनाफाखोरी नहीं बल्कि उनसे त्रस्त आम जनता खुद है जो ज्यादा बच्चे पैदा करती है। यह इस व्यवस्था के खिलाफ जनसामान्य में व्याप्त आक्रोश को ठण्डा करने की साजिशों का ही एक रूप है।

ऐसे दुष्प्रचार पूँजीवाद के लिए नया औजार नहीं हैं, बल्कि पूँजीवाद के शुरुआती दौर से ही चला आ रहा है। इन अफवाहों का प्रवर्तक इंग्लैण्ड का खूसट पादरी माल्थस था जिसने समाज में व्याप्त भुखमरी और बेरोजगारी के लिए बढ़ती आबादी को जिम्मेदार ठहराया था। माल्थस के सिद्धान्तों से अंग्रेज पूँजीपति फूले नहीं समाये। उन्होंने समझा कि इससे आम जनता की आगे बढ़ने की इच्छा हमेशा के लिए दब जायेगी। उन्होंने खुले दिल से उसका स्वागत किया और उसके इस बेटुके सिद्धांत को खूब उछाला। माल्थस ने बड़ी चतुराई से यह तर्क पेश किया कि आजीविका के साधन अंकगणितीय क्रम में (यानी 1 से 2, 2 से 3, 3 से 4) बढ़ते हैं, जबकि जनसंख्या गुणोत्तर क्रम (यानी 1 से 2, 2 से 4, 4 से 8) में बढ़ती है। कुल मिलाकर माल्थस का मकसद यह बताना था कि आबादी जिस हिसाब से बढ़ती है, आजीविका के साधन नहीं बढ़ते हैं। इसीलिए जनसंख्या का एक हिस्सा फालतू हो जाता है

और समाज की सारी समस्याओं का कारण यही फालतू आबादी है। माल्थस का जोर इस बात को सिद्ध करने में था कि बेरोजगारी पूँजीवादी व्यवस्था की अनिवार्य बुराई नहीं, बल्कि इसका कारण प्राकृतिक है। लेकिन उन्नीसवीं सदी के अनुभव ने माल्थस के हवाई किले को चकनाचूर कर दिया। आबादी से कहीं ज्यादा पूँजीपतियों की दौलत बढ़ चली और जाहिर हो गया कि गरीबी का कारण क्या है। माल्थस के तर्क का हास्यास्पद पक्ष यह है कि उसने जनसंख्या वृद्धि के लिए अमरीका का आँकड़ा लिया जबकि आजीविका वृद्धि के लिए फ्रांस का और दोनों आँकड़ों को जोड़कर अपनी बात को सिद्ध कर दिया। जल्द ही माल्थस की पोल-पट्टी खुल गयी। सभी विचारधाराओं के अर्थशास्त्रियों ने माल्थस का माखौल उड़ाया। लेकिन उसका यह सिद्धान्त चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था के लिए फायदेमंद था, इसलिए वह दुनिया के प्रतिक्रियावादियों के लिए आज भी सिरोधार्थ है। इस खोखले और मजाकिया सिद्धान्त को अर्थशास्त्र की पुस्तकों में घुसाकर पीढ़ी दर पीढ़ी विद्यार्थियों के दिमाग को दूषित करने के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा है जो आज तक जारी है।

इस तरह के कुतर्कों को तभी से फैलाया जा रहा है, जब दुनिया की आबादी आज से आधी भी नहीं थी। आज एक बार फिर पूँजीवाद लगातार संकटों से बुरी तरह घिरा हुआ है और दुनिया भर में जनता का आक्रोश सीधे पूँजीवादी तंत्र को निशाना बना रहा है। यही कारण है कि जनता के मन मस्तिष्क को नियंत्रित करने के लिए पूँजीवाद के रक्षक एक बार फिर वही तरीका अपना रहे हैं।

आबादी नियंत्रण के लिए लोगों के जीवन स्तर में आमूल परिवर्तन जरूरी होता है। खुशहाली आने पर लोग अपनी मर्जी से आबादी नियंत्रण में सहयोग करने लगते हैं। लेकिन पूँजीवाद से बहुसंख्य आबादी को बेहतर जीवन स्तर उपलब्ध कराने की उम्मीद करना बेमानी है। उल्टे वे आम जनता के जन्म लेने को ही अमंगलकारी बताने का मानवद्वेषी कुकृत्य करते हैं।

पूँजीवादी कुलीन तंत्र दुनिया की सारी समस्याओं का दोष 99 फीसदी आबादी पर मढ़ रहा है, जबकि "वॉल स्ट्रीट पर कब्जा" आन्दोलनकारियों ने इस बकवास को सिरे से खारिज कर दिया। उनका कहना है कि इस संकट

के मुख्य दोषी 99 फीसदी लोग नहीं बल्कि केवल एक फीसदी धनिक वर्ग है। आन्दोलनकारियों के अनुसार बहुराष्ट्रीय निगमों के अधिकांश शेयरों और कॉर्पोरेट पूँजी के मालिक एक फीसदी धनाढ्य हैं जिनके पास इन निगमों को नियंत्रित करने की अपार ताकत है। पर्यावरण विनाश के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार वे ही परोपजीवी हैं। एक फीसदी लोगों में अमरीका के 46 फीसदी सांसद, 59 फीसदी सिनेटर तथा वहाँ के तमाम पूँजीपति और बैंकर शामिल हैं।

ब्रिटिश कंसल्टिंग कम्पनी ट्रूकास्ट ने संयुक्त राष्ट्र के लिए एक ताजा रिपोर्ट तैयार की है जिसमें केवल 3,000 बहुराष्ट्रीय निगम प्रतिवर्ष 215 अरब डॉलर के बराबर पर्यावरण विनाश के दोषी हैं। इस रिपोर्ट में उन निगमों द्वारा पर्यावरण विनाश के कई सारे पहलुओं पर ध्यान नहीं दिया गया है। उन सबको जोड़ने पर यह नुकसान बहुत ही अधिक होगा।

अमरीकी सरकार और अमरीकी सेना पर इन्हीं एक फीसदी धनवानों का नियंत्रण है जो पेट्रोलियम फूँकने और ग्रीन हाऊस गैसों का उत्सर्जन करने में दुनियाभर में सबसे आगे हैं। अमरीका के एक सैनिक अभियान के दौरान पाँच

केमिकल फैक्ट्रियों से भी अधिक हानिकारक कचरा उत्पन्न होता है।

यह सोचना कि जनसंख्या वृद्धि दर में कमी लाने से ही पर्यावरण विनाश पर रोक लग जायेगी, इस समस्या के मूल कारणों को अनदेखा करना है। सेनाओं और निगमों द्वारा दुनिया को प्रदूषित करने और पारिस्थितिकी का विनाश करने के पीछे मुनाफे की उनकी हवस है।

बहुसंख्य आम जनता से सरोकार रखने वाले लोगों को इस नवमाल्थसवादी मंसूबों को समझने और लोगों को समझाने की जरूरत है। बेवजह अपराधबोध से ग्रस्त होने के बजाय इस झूठ का भंडाफोड़ करने की जरूरत है। 99 फीसदी परिवारों में पैदा होने वाले बच्चे हर तरह के उत्पादन कार्यों में हाथ बँटाने वाले श्रमिक बनते हैं। वे दुनिया की हर चीज पैदा करते हैं, जिन पर खुद उनका ही अधिकार नहीं होता। दूसरी ओर एक फीसदी कुलीनों की जमात पूरी तरह परजीवी है जो दूसरों की कमाई पर मौज उड़ाते हैं। हम "99 फीसदी लोगों" को अपनी ताकत पहचानने और एकजुट होकर इस पूँजीवादी कुलीन तंत्र के खिलाफ संघर्ष छेड़ने की जरूरत है।

गोपालगढ़ नरसंहार फासीवादी ताकतों का बर्बर हमला

राजस्थान के भरतपुर जिले में फासीवादी ताकतों ने एक सुनियोजित हत्याकांड किया और हर बार की तरह सरकार और मीडिया ने इसे दबाने और छुपाने की पूरी कोशिश की। इस हत्याकांड की मुख्य वजह गोपालगढ़ के सरपंच और गोपालगढ़ के मुस्लिमों के बीच कब्रिस्तान की जमीन का विवाद है, 1928 से कब्रिस्तान की जमीन वक्फ की सम्पत्ति है जिसे 40 साल पहले कब्रिस्तान घोषित किया गया था। मेव मुस्लिमों की तरफ से दो बार यह विवादित मामला स्थानीय एसडीएम अदालत में गया और दोनों बार फैंसला मुस्लिम समुदाय के पक्ष में आया। 12 सितम्बर को एसडीएम अदालत ने सरपंच को यह जमीन खाली करने की नोटिस दी, मस्जिद कमेटी के तीन सदस्य जब सरपंच के पास इस जमीन को खाली कराने पहुँचे तो सरपंच और उसके लठैतों ने मिलकर तीनों को बुरी तरह पीटा। इससे आहत मुस्लिम समुदाय इस विवाद को अगले दिन की पंचायत में जिस समय बातचीत के जरिये सुलझाने की कोशिश में जुटा था। उसी रात भरतपुर इलाके के सांप्रदायिक हिन्दू संगठनों के दो सौ से अधिक गुर्जर कार्यकर्ता वहाँ जमा होने लगे।

अगले दिन एक तरफ दो विधायक और दोनों समुदायों के लोग मामला शांतिपूर्ण तरीके से निपटाने के लिए स्थानीय थाने में जमा हुए और दूसरी तरफ आरएसएस कार्यकर्ताओं ने गोपालगढ़ को चारों तरफ से अपने कब्जे में ले लिया। सड़कों पर पहरें लगा दिए और कस्बे में लोगों के आने-जाने पर रोक लगा दी गयी। इन बातों से अनजान दोनों समुदायों के बीच थाने में हुई बातचीत से इस पर सहमति बनी कि जमीन पर उसी समुदाय का अधिकार है, जिनके नाम रिकार्ड में यह जमीन दर्ज है और कब्रिस्तान की जमीन पर अनाधिकार कब्जा और मारपीट करने के दोषी व्यक्ति मुस्लिम समुदाय से माफी माँगे।

गुर्जर समुदाय के कुछ लोग और आरएसएस कार्यकर्ताओं ने इस फैंसले को मानने से इंकार कर दिया और थाने में तोड़फोड़ शुरू कर दी। आरएसएस कार्यकर्ताओं और गुर्जरों ने मीटिंग में मौजूद भरतपुर के डीएम और एसपी के साथ धक्का-मुक्की की और कॉलर पकड़कर पुलिस को मुस्लिमों के ऊपर फायरिंग का आदेश दिलवाया। इन घटनाओं से क्या यह साबित नहीं होता कि फासीवादी ताकतें आज समाज, सरकार और न्यायालय से खुद

को ऊपर मानने लगी हैं? हमारा प्रशासन पीड़ितों को न्याय दिलवाने के बजाय फौज-फाटे सहित इन फासीवादी ताकतों के साथ मुस्लिम समुदाय पर टूट पड़ा। हथियारबंद लोग मुस्लिम मुहल्ले पर हमला करते रहे। चुन-चुन कर मुस्लिमों की दुकानों और घरों को लूट कर आग के हवाले करते रहे। सभी मर्द थाने में मीटिंग के लिए गए थे और डर के मारे घरों की सारी औरतें एक जगह इकट्ठा हो गयी थीं। दंगाई छतों पर चढ़कर कायरतापूर्ण तरीके से औरतों पर पथराव कर रहे थे और प्रशासन चुप था। यह चुप्पी तूफान के आने से पहले की शांति थी।

दोपहर नमाज के वक्त आस-पास के गाँवों के लोग खरीददारी और नमाज अदा करने के लिए गोपालगढ़ में इकट्ठा होते हैं। पिछली घटनाओं और मस्जिद में तोड़-फोड़ की खबर से वहाँ भीड़ ज्यादा थी। मस्जिद में उस वक्त दो सौ से अधिक लोग मौजूद थे और जैसे ही नमाज शुरू हुई पुलिस का दंगा नियंत्रण वाहन मस्जिद के ठीक सामने आकर रुका और उसने मस्जिद पर फायरिंग शुरू कर दी। मस्जिद से बाहर निकलने के दोनों दरवाजों पर गुर्जर और आरएसएस के लोग आधुनिक हथियारों से लैस खड़े थे, इसलिए मस्जिद में लोग पीछे की तरफ से दीवार तोड़कर भागने लगे। फायरिंग में कुछ लोग मारे गए और कुछ लोग घायल हो कर तड़पने लगे। इसके बाद बर्बरता की सारी हदें पार कर दी गयीं। मृतकों और घायलों के शरीर पर गोलियों के निशान हटाने के लिए उनके हाथ-पाँव काटे डाले गये। इसके बाद घायलों और मृतकों को गुर्जर और आरएसएस के लोग पुलिस की गाड़ियों में लाद कर ले गये। कुछ लोगों पर तेल छिड़ककर जिन्दा जलाने की कोशिश की गयी। इनमें से कई लोगों ने जयपुर के सवाई मानसिंह हस्पताल में इलाज के दौरान जान गवाँ दी।

अधजली हड्डियाँ, जूते और कपड़ों के टुकड़े, मस्जिद से एक-दो किलोमीटर दूर जंगलों में और ईदगाह के एक कूँपे में मिले। मस्जिद की दीवारों पर पचासों जगह गोलियों के निशान थे जिन्हें बाद में सीमेन्ट भर कर मिटाने की कोशिश की गयी। कपर्धू के दौरान भी दंगाई कस्बे में खुले आम घूमते रहे और मुसलमान अपने घरों को छोड़ रिश्तेदारों के यहाँ छुपने को मजबूर हुए। इन कार्रवाईयों में व्यवस्थित और संगठित तरीके से इंसानियत पर हमला किया गया, जिसने एक बार फिर इंसानियत को शर्मसार कर दिया।

सरकार और मीडिया ने तथ्यों को छुपाया और दंगाइयों द्वारा बर्बरतापूर्वक एकतरफा हमले को उसने धर्मों का साम्प्रदायिक दंगा बताया और जनता को गुमराह किया।

इस घटना में आरएसएस नेताओं के कहने पर प्रशासन ने संविधान को ताक पर रखकर गोली चलाने के आदेश दिए और

अपने शस्त्रागार को खोल दिया, जिनका उपयोग मस्जिद में आरएसएस और गुर्जरों ने गोलीबारी में किया।

गरीब मसीहा और मुस्लिम हितैषी युवराज वहाँ भी नाटक करने पहुँच गये। सीबीआई को भी राज्य से सुरक्षा की गुहार करनी पड़ी। राज्य और केन्द्र में भी काँग्रेस सरकार वोट बैंक के लिए दंगों का तुष्टिकरण और सीबीआई जाँच कराने का ढोंग करती है। रुद्रपुर, फारबिसगंज, गोपालगंज, अटरिया, मुरादाबाद और गोपालगढ़ सबसे ताजा हमले हैं। इसी जून में बिहार के फारबिसगंज में अपनी जमीन के कब्जे के विरोध में चार मुसलमानों की गोली मारकर हत्या कर दी थी और नीतीश सरकार के इशारों पर मीडिया ने इसे भी दबाने की कोशिश की।

क्या यह दंगा था या प्रायोजित हत्याकाण्ड? क्योंकि आरएसएस, गुर्जरों और पुलिस के बीच से एक भी आदमी घायल नहीं हुआ? हत्यारों के खिलाफ एफआईआर दर्ज नहीं हुई। उल्टे 600 दंगा पीड़ित मुसलमानों के खिलाफ पुलिस ने एफआईआर दर्ज की है।

दरअसल गोपालगढ़ करबे के पचास मुस्लिम परिवारों पर यह हमला कोई नयी बात नहीं है। छोटे-मोटे हमले लगातार होते रहते हैं। यहाँ खेती आजीविका का मुख्य साधन है। जिसमें आधे से ज्यादा मुसलमान भूमिहीन हैं जो धनाढ्य और बड़ी जोत के मालिक गुर्जरों की जमीन पर मेहनत मजदूरी करके अपनी जिन्दगी बसर करते हैं। कुछ मेव छोटे-मोटे धंधे करते हैं या दुकान चलाते हैं या पत्थर काटते हैं। खेती, चिकित्सा या विवाह के समय ये गुर्जरों से जो कर्ज लेते हैं उस पर उन्हें कई गुना ब्याज चुकाना पड़ता है। कर्ज न चुकाने की स्थिति में गाली-गलौज, मारपीट और अपमान बर्दाश्त करना पड़ता है। गरीब मेव मुसलमानों के ऊपर दबदबा बनाने के लिए लगातार उन पर हमले किये जाते हैं।

देश की हालत बदतर होने के चलते पूरे देश में फासीवादी ताकतें दुबारा सिर उठाने लगी हैं। इस साल अगस्त तक साम्प्रदायिक हिंसा की 338 घटनाओं में 53 लोग मारे गए और 1056 लोग घायल हुए।

साम्प्रदायिक हिंसा के अधिकांश मामलों ने मुस्लिम समुदाय पर एकतरफा हमला किया जाता है। दोषियों को सजा देने बजाय उल्टे हिंसा के शिकार लोगों को झूठे मुकदमों में फँसाकर जेल में बन्द किया जाता है। कानूनी लड़ाई लड़ने वालों और गवाहों का उत्पीड़न भी आम बात है। यह स्थिति देश में दिनोंदिन बढ़ती फासीवादी प्रवृत्ति को दर्शाता है। लोकतांत्रिक और जनपक्षधर संगठनों और व्यक्तियों को एकजुट होकर इसके खिलाफ आवाज बुलन्द करनी होगी।

सार्वजनिक सम्पत्ति की लूट : एक और महाघोटाला

ओडिसा के लौह अयस्क सम्पन्न क्यॉंझर जिले में लगभग 3,00,000 करोड़ रुपये का एक खनन महाघोटाला सामने आया है। बेल्लारी और गोवा के खनन घोटाले इसके आगे बौने नजर आ रहे हैं। यह घोटाला लौह अयस्क की उन 243 खानों में हुआ है, जहाँ 2009 में ओडिसा विधान सभा में हंगामे के बाद खनन बंद करने का आदेश दिया गया था, लेकिन इसके बावजूद खनन अभी तक जारी है। अवैध खनन किये गये लौह अयस्क का चीन को निर्यात किया गया है।

सरकार के सतर्कता विभाग ने 5 कम्पनियों के खिलाफ अवैध खनन का मुकदमा दर्ज कराया है और 13 छोटे अधिकारियों की गिरफ्तारी हुई है, लेकिन असली बड़ी मछलियाँ अभी भी जाल से बाहर हैं। ताज्जुब यह कि इतने बड़े घोटाले को खनन विभाग एक तकनीकी खामी जैसा मामला बना रहा है। गौरतलब है कि जिस लौह अयस्क पर निजी कम्पनियाँ लगभग 8000 रुपये प्रति टन कमाती हैं उस पर सरकार उनसे मात्र 75 रुपये प्रति टन रॉयल्टी के रूप में लेती हैं।

पिछले दो दशकों के दौरान हमारे देश में प्राकृतिक संसाधनों की लूट में बेतहाशा वृद्धि हुई है। सामने आने वाला हर नया घोटाला पिछले घोटालों को काफी पीछे छोड़ देता है। कुछ करोड़ के बोफोर्स घोटाले की तुलना में आज के घोटालों का आकार लाखों गुना बढ़कर कई लाख करोड़ तक पहुँच चुका है। एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि पहले के घोटाले जहाँ मुख्यतः सरकारी खरीद-फरोख्त में दलाली के रूप में या लाइसेन्स कोटा, परमिट जारी करने वाले अधिकारियों द्वारा होते थे, वहीं आज के घोटाले देश के संसाधनों को सीधे तौर पर निजी पूँजीपतियों के हाथों में सौंपने से सम्बन्धित हैं, जैसे 2जी स्पैक्ट्रम घोटाला, केजी बेसिन घोटाला, कर्नाटक का खनन घोटाला, गोवा का खनन घोटाला और अब ओडिसा का यह ताजा महाघोटाला।

अपने देश के कच्चे माल का निर्यात करना किसी भी देश के पिछड़ेपन की निशानी होती है, क्योंकि तैयार

माल कच्चे माल की अपेक्षा कई गुना महँगा होता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत से कपास खरीदकर ब्रिटेन ले जाती थी और उससे ही तैयार कपड़े भारत में बेचकर यहाँ से अकूत दौलत बटोरती थी। आज यही काम हमारे शासक अपनी मर्जी से कर रहे हैं। जिस लौह अयस्क का अवैध खनन करके चीन को बेचा गया है, उससे चीन इस्पात तैयार करके कई गुना दामों पर दुनिया भर में निर्यात कर रहा है। क्या हमारे देश में इस्पात तैयार करना सम्भव नहीं? तैयार इस्पात की कीमत के रूप में देखने पर इस महाघोटाले से देश को होने वाले नुकसान का अन्दाजा लगाना असम्भव है।

जब तक हमारे देश के शासक वर्ग ने अपने स्वावलम्बी विकास के सपने को तिलांजलि नहीं दी थी तब तक वह देश के संसाधनों का बहुत कफायत से इस्तेमाल करता था। परन्तु 1990 आते-आते उसने खुद को निजीकरण, वैश्वीकरण, उदारीकरण की वैश्विक साम्राज्यवादी नीति के साथ नत्थी करके पूरे देश को देशी-विदेशी पूँजीपतियों की लूट-खसोट के लिए खुला छोड़ दिया। इसके बाद देश के संसाधनों की जो लूट शुरू हुई, वह दिनों-दिन विकराल रूप धारण करती जा रही है।

घोटाले और भ्रष्टाचार पूँजीवादी व्यवस्था की अन्तर्निहित बुराई हैं, क्योंकि यह व्यवस्था श्रम की लूट पर फलती-फूलती है। हमारे देश में आजादी के बाद से ही अलग-अलग तरह के घोटाले सामने आते रहे, लेकिन उस पर एक हद तक नियंत्रण था। लेकिन पिछले दो दशकों से जब उपनिवेशवाद अपने नये रूप में प्रकट हुआ, तब से ब्रिटिश हुकूमत से भी ज्यादा निर्ममता से हमारी सार्वजनिक सम्पदा और प्राकृतिक संसाधनों को लूटा जा रहा है। ओडिसा का यह लौह अयस्क महाघोटाला उसकी ताजा मिसाल है।

तेल की बढ़ती कीमत और गरीबी

दहाई अंकों में महँगाई के पहुँचने के बाद तेल के दामों में एक बार फिर बढ़ोत्तरी ने सीधे गरीब के भूखे पेट पर प्रहार करने का कार्य किया है। यह सही है कि अंतरराष्ट्रीय कीमतों के मुताबिक देश में तेल की कीमतें तय होती हैं और सरकार नुकसान में ही रहती है। उसके लिए यह नुकसान उठाना संभव है, क्योंकि सरकार अमूर्त है, एक अवधारणा है। उसका संचालन करने वाले राजनीतिक दलों को मूल्य वृद्धि के बाद सत्ता से हटने का खतरा रहता है। जबकि हाड़-मांस के जीते-जागते इंसानों के लिए कीमतों के बढ़ने का मतलब जीवनयापन में घोर संकट का सामना करना है। हिन्दुस्तान के 2 प्रतिशत अतिधनाढ्यों की जीवनशैली को इस कदर प्रचारित-प्रसारित कर दिया गया है कि भारत के विकसित देश होने का गुमान होने लगता है। इसका श्रेय कार्पोरेट पूँजी से संचालित मीडिया और कार्पोरेट संस्कृति में ढलती सरकार को है। पेट्रोल की कीमतें बढ़ने पर हो-हल्ला भी सबसे ज्यादा इन्हीं के बीच मचाया जाता है, क्योंकि ये जानते हैं कि ऐसा करके जनता को भरमाया जा सकता है कि उसकी फिक्र इन्हें है। लेकिन अगर इनके हंगामे से कोई असर पड़ना होता तो इस तरह बारम्बार न तेल की कीमतें बढ़तीं और न महँगाई बेलगाम भागती। ठीक है कि अंतरराष्ट्रीय बाजार में तेल का जो दाम है, भारतीय बाजार को उसी मुताबिक चलना होगा। लेकिन सरकार चाहे तो इसका काट भी ढूँढ सकती है। कुछ समय पहले तत्कालीन पर्यावरण मंत्री जयराम रमेश ने सवाल उठाया था कि सब्सिडी वाले डीजल से महँगी कारें क्यों चलने देनी चाहिए? यह प्रश्न आज भी उतना ही प्रासंगिक है। डीजल की सब्सिडी कृषि कार्यों के लिए दी जाए, तो उसका दीर्घकालिक लाभ देश को मिले, लेकिन जिन लोगों के पास लाखों की कार खरीदने की क्षमता है, उन्हें सस्ता डीजल क्यों कर मिलना चाहिए। यह विडंबना है कि देश में सार्वजनिक परिवहन को साजिशान खत्म किया जा रहा है और वाहन उद्योग इस कीमत पर खूब फल-फूल रहा है। दोपहिया वाहनों और कारों की बिक्री के नए रिकार्ड बन रहे हैं। उत्पादन

और बिक्री के कीर्तिमान गढ़ने में इस तथ्य को भुलाया जा रहा है कि इन्हें चलाने के लिए तेल की आवश्यकता पड़ेगी, जिसका भण्डार सीमित है और निजी सुख के लिए उसका उपभोग करने की अपेक्षा व्यापक हित में खर्च करना श्रेयस्कर होगा। उद्योगपतियों के मुनाफा कमाने की भूख को मिटाने के लिए सरकार जनता को चारे की तरह इस्तेमाल कर रही है, जो निंदनीय है। अगर आज भी सार्वजनिक यातायात को अत्यंत सुगम, सुविधाजनक बनाया जाए, तो जनता का एक बड़ा वर्ग निजी वाहनों के इस्तेमाल को सीमित करेगा। दिल्ली की मेट्रो और मुंबई की लोकल में बढ़ती हुई भीड़ इसका प्रमाण है कि सार्वजनिक यातायात को जनता कितनी तरजीह देती है। सरकार अगर मोटर साइकिल या कारों की निर्माता कम्पनियों को जितना प्रोत्साहन देती है, उसका थोड़ा भी हिस्सा साइकिल निर्माताओं व साइकिल चालकों को देती तो सड़कों पर यातायात का बोझ कम होता और तेल का अविचारित दोहन भी। इसी प्रकार निजी विमानन कम्पनियों को आगे बढ़ाने के लिए सरकार तत्पर रहती है, भले ही तेल के करोड़ों के कर्ज को समय से न पटाकर देश को नुकसान पहुँचाती रहती हैं। किसानों की कर्ज माफी का प्रचार-प्रसार इस तरह किया जाता है कि सरकार ने कितना बड़ा एहसान किया है। और उद्योगपतियों पर बकाया राशि को जब छोड़ दिया जाता है, तो सरकार इस कोशिश में रहती है कि इसकी खबर किसी को न हो। देश की गरीब जनता को इस बात से कोई मतलब नहीं है कि तेल की कीमत प्रति बैरल कितनी है, देश में तेल के भण्डारों पर किसका नियंत्रण है और कौन-कौन उसमें मुनाफा कमा रहा है। वह यह भी नहीं जानती कि सरकार कितना नुकसान तेल के व्यापार में उठाती है। वह केवल इतना समझती है कि जब-जब तेल की कीमतें बढ़ती हैं, उसकी थाली का खालीपन बढ़ जाता है। सरकार उसके इस दर्द को समझे, यही अपेक्षा है।

(8 नवम्बर 2011 के देशबंधु से साभार)

एयर इंडिया का वित्तीय पुनर्गठन सार्वजनिक क्षेत्र को तबाह करने की कवायद

औद्योगिक एवं वित्तीय पुनर्गठन (एसआईएफआर) के पूर्व अध्यक्ष का यह कथन सरकारी एयर लाइंस कम्पनियों पर पूरी तरह सही उतरता है कि "यूनिट जितना बीमार होता जाता है, मालिक का स्वास्थ्य उतना ही बेहतर होता जाता है"।

एयर इंडिया की बर्बादी की कहानी अगस्त 2004 में शुरू हुई जब बड़ी संख्या में हवाई जहाज खरीदे गये। मार्च 2007 में इण्डियन एयरलाइंस और एयर इंडिया के विलय ने स्थिति को और भी बदतर बना दिया। विलय के समय यह दावा किया गया था कि इससे दोनों उपक्रमों की बेहतर कार्यपद्धतियों को अपनाने से संचालन और प्रशासनिक खर्चों में कमी आयेगी। लेकिन व्यवहार में यह पहले से भी विनाशकारी साबित हुआ।

इस विलय की सफलता को लेकर पहले ही आशंका थी। दोनों एयरलाइंसों के कर्मचारियों को यह आस्वासन दिया गया था कि दोनों में से जिसका वेतन और सुविधायें अधिक होंगी, उन्हें ही दोनों एयरलाइंसों के कर्मचारियों पर लागू किया जायेगा। चार साल बीतने पर भी जब ऐसा नहीं हुआ तो इस वर्ष 26 अप्रैल को 800 इण्डियन एयरलाइंस कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी और 10 दिन बाद उनकी माँग पर विचार किये जाने के आस्वासन पर उन्होंने हड़ताल वापस ले ली। दोनों तरफ के कर्मचारियों तथा उनकी मजबूत यूनियनों की माँगों की भी अनदेखी की गयी।

अगस्त 2004 में जब प्रफुल्ल पटेल नागरिक उड्डयन मंत्री थे, तभी 50,000 करोड़ रुपये की लागत से 50 हवाई जहाज खरीदने का आदेश दिया गया। ये सभी हवाई जहाज लम्बी दूरी और सीधी उड़ान के लिए थे, जैसे—मुम्बई से न्यूयॉर्क तक। इस खरीदारी के कारण 40,000 करोड़ रुपये का कर्ज चढ़ गया। इसके बाद 2006 में भी बिना किसी व्यवहारिक योजना के 60 नये हवाई जहाज खरीदे गये। मजे की बात तो यह है कि 2005 से ही अच्छी कमाई वाले खाड़ी देशों, यूरोप और अमरीका के लिए उड़ान भरने के अधिकार हासिल करके विदेशी कम्पनियों को दे दिये गये। एयर इण्डिया की कीमत पर खाड़ी देशों की कम्पनियों ने भारतीय बाजार में अपनी जड़ जमा ली।

भ्रष्टाचार के बावजूद 2006-07 तक एयरलाइंस फायदे में रही। स्थिति इतनी बदतर हो गयी कि मार्च 2009 तक घाटा बढ़कर 7,200 करोड़ रुपये हो गया। कम्पनी की दुर्गती के पीछे भ्रष्टाचार एक महत्वपूर्ण कारण है। एक रिपोर्ट के अनुसार बिस्कुट का पैकेट जो दुकानों में दो रुपये का आता है, एयर इण्डिया उसे 29 रुपये में खरीदता है। इसके साथ ही कर्मचारियों के परिवारों को साल में कई बार मुफ्त यात्रा तथा नेताओं और विशिष्ट लोगों के लिए तरह-तरह की सुविधायें भी घाटे को बढ़ाती हैं। यह भी गौरतलब है कि 2001 में एयरलाइंस के निजीकरण की भी कोशिश की गयी थी। टाटा और सिंगापुर की एक एयरलाइंस कम्पनी के संघ ने इसके लिए बोली लगायी थी पर यह सौदा नहीं हुआ। संसद को दी गयी कैंग की रिपोर्ट बताती है कि दोषपूर्ण नियोजन, तदर्थ निर्णय और बिना वजह सुविधाएँ लुटाना एयरलाइंस की बर्बादी के कारण हैं।

एयर इंडिया भले ही बर्बादी का शिकार हो लेकिन इसके रहनुमा जिन्होंने इसे कर्ज के जाल में फँसाया वे दिन-दूनी रात चौगनी तरक्की कर रहे हैं। नागरिक उड्डयन मंत्री रहे प्रफुल्ल पटेल की सम्पत्ति में मई 2009 से अगस्त 2011 के बीच औसतन 5 लाख रुपये प्रतिदिन इजाफा हुआ। यह आँकड़ा वास्तव में इससे कहीं ज्यादा होगा क्योंकि यह खुद उन्हीं के हलफनामे पर आधारित है। इसी अवधि में एयर इण्डिया अपने कर्मचारियों को वेतन भी मुश्किल से ही दे पाता था। एयरलाइंस के 40 प्रतिशत कर्मचारी एक साल में जितना कमाते हैं, मंत्री महोदय हर रोज उतनी दौलत उड़ाते हैं।

1991 में उदारीकरण—निजीकरण लागू किये जाने के बाद से सरकारी सम्पत्ति की लूट और सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की कौड़ियों के मोल नीलामी का जो सिलसिला शुरू हुआ था उसी की एक कड़ी है— सरकारी एयरलाइंस कम्पनियों को तबाह करके उससे अपार सम्पत्ति बनाने का यह खेल। इस लूट—खसोट में शामिल लोगों को कठघरे में खड़ा करने के बजाय उनकी पदोन्नति की जा रही है, क्योंकि भ्रष्टाचार ही नवउदारवाद का शिष्टाचार हो गया है।

लंदन में दंगे

अगस्त के पहले हफ्ते में लंदन में अचानक दंगे भड़क उठे। जिसने पूँजीवाद की खुशहाली के भीतर की संडांध को सतह पर ला दिया। 4 अगस्त को अफ्रीकी मूल के मार्क डग्नन की पुलिस द्वारा गोली मारकर हत्या किये जाने की प्रतिक्रिया में दंगे फूट पड़े। लेकिन यह लोगों में लंबे समय से सुलगते गुस्से का नतीजा था। देखते-देखते यह कई जिलों में फैल गया और लगभग पाँच दिनों तक जारी रहा। ब्रिटिस प्रधानमंत्री को अपने इटली दौर से तत्काल वापस आना पड़ा और इस मुद्दे पर बहस के लिए संसद की आपात बैठक बुलानी पड़ी। इन दंगों में लूट, आगजनी और हमले के कारण पाँच लोगों की मौत हो गयी, 16 से भी ज्यादा नागरिक और 186 पुलिसकर्मी घायल हुए। दंगों में कुल मिलाकर 3,393 अपराधिक घटनायें हुईं और 3,100 लोगों को गिरफ्तार किया गया।

लंदन दंगों को सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में देखना जरूरी है। इजारेदार पूँजीवाद ने अपनी सबसे बड़ी समस्या—विराट अति उत्पादन की बिक्री को हल करने के लिए विज्ञानों एवं अन्य प्रयासों द्वारा लोगों में चरमस्वार्थी उपभोक्तावादी मानसिकता विकसित की है। उपभोक्तावाद स्वाभाविक मानवीय गुण नहीं है, बल्कि पूँजीपतियों द्वारा अपने निकृष्ट स्वार्थ के लिए कृत्रिम रूप से पैदा की जाती है।

एक अनैतिक नवउदारवादी अर्थतंत्र ने व्यभिचारी मीडिया नवाबों जैसे मर्डोक को खुली छूट दे दी जिन्होंने जनता को बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा तैयार किये गये विलासिता के सामानों के प्रति लालची बना दिया। इसकी जड़ में उपभोक्तावादी मूल्य है जो किसी भी नैतिक और सामाजिक उत्तरदायित्व को नहीं मानता है। लंदन के दंगाई लोगों के घरों और दुकानों से ऐसी कीमती चीजें लूट रहे थे जो ज्यादातर अमीरों के घरों में ही देखने को मिलती हैं। वे लुटेरे बेघर नहीं बल्कि सरकारी सहायता प्राप्त घरों में रहने वाले लोग थे, जिनको कैमरून सरकार ने सरकारी सुविधाओं में कटौती करके दयनीय सामाजिक स्थिति में पहुँचा दिया। साथ ही अपने दक्षिण एशियाई पड़ोसियों के प्रति उनके मन में व्याप्त ईर्ष्या और क्रोध ने धार्मिक एवं जातीय दंगों की आग में घी का काम किया।

लंदन दंगे भारत के लिए सबक है। लंदन दंगों के जो कारण रहे हैं वे भारत में भी मौजूद हैं। इस सच्चाई को 84 के सिक्ख-विरोधी दंगों, मुंबई में 1992 के दंगों एवं 2002 के गुजरात दंगों ने बार-बार सही ठहराया है। भारत में ही समाज का एक बड़ा तबका उन विलासिता के सामानों से वंचित है जिसे समाज में हैसियत की निशानी माना जाता है। 1991 में नयी आर्थिक नीति लागू होने के बाद एक तरफ वंचित और दूसरी ओर अपार समृद्धि वाले लोगों के बीच खाई बढ़ी है। 84 के सिक्ख दंगों में दिल्ली में मध्यम वर्ग के युवाओं और गरीब वंचितों ने अपने पड़ोसी सिक्खों की दुकानों और घरों में लूटपाट की थी जिनमें टीवी सेट, रेफ्रीजरेटर और रसोई के उपकरण शामिल थे। यहाँ तक कि बहुतों ने उनके घरों पर भी कब्जा कर लिया। इसके पीछे सामाजिक हैसियत को ऊपर उठाने की चाहत थी। इसी वर्ग के लोग 92 तथा 2002 में भी उभरकर सामने आये, जो कारों में घूमते और मोबाइल फोन पर बात करते हुए मुसलमानों को अपना निशाना बना रहे थे।

भारतीय भीड़ एक मामले में लंदन दंगाइयों से अलग है। लंदन के दंगाइयों को किसी राजनीतिक पार्टी का संरक्षण प्राप्त नहीं था, जबकि यहाँ अपराधिक गैंगों को मुख्य भारतीय राजनीतिक पार्टियों का खुला समर्थन मिला हुआ था। 84 में सिक्खों के खिलाफ काँग्रेस का और गुजरात के दंगों में भारतीय जनता पार्टी का हाथ था, यह यह बात किसी से छिपी नहीं है।

जनसाधारण के जीवन के हर पहलू पर आर्थिक नीतियों का किस हद तक प्रभाव पड़ता है, दिल्ली, गुजरात और लंदन के दंगे इसके जीवंत उदाहरण हैं। एक ऐसा सामाजिक आर्थिक-राजनीतिक तंत्र, जिसका उद्देश्य केवल मुट्ठी भर ऊपरी तबकों की खुशहाली नहीं, बल्कि पूरे देश का समान रूप से विकास हो, जिसका मकसद मुनाफा या पूँजी संचय नहीं, बल्कि समूची जनता का जीवनस्तर ऊँचा उठाना और मानवीय मूल्यों का विकास करना हो, वही सही मायने में बेहतर भविष्य का निर्माण कर सकता है।

वचाती : सरकारी ढमन उत्पीड़न के खिलाफ आदिवासियों की जीत

29 सितम्बर 2011 को तमिलनाडु के धर्मपुरी की जिला अदालत ने एक मामले में 269 सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों को आदिवासी गाँव वचाती के ग्रामीणों के साथ बलात्कार, लूट, दंगा, अनुचित कारावास, जातिगत उत्पीड़न जैसे गम्भीर अपराधों का दोषी ठहराया है। दुनिया में शायद ही कोई मुकदमा हो जिसमें सभी अपराधी सरकारी कर्मचारी रहे हों और उन्होंने सुनियोजित तरीके से एक खास समुदाय के खिलाफ अपराध किया हो। इस मुकदमें की सुनवाई के दौरान राज्य सरकार और प्रमुख राजनीतिक पार्टियों ने अपराधियों को बचाने की भरपूर कोशिश की और मामले की जाँच में बाधा पहुँचायी।

तमिलनाडु के पश्चिमी घाट पर चन्दन के जंगलों से ढकी चितेरी पहाड़ियों के नीचे मलयाली आदिवासी लोगों का गाँव वचाती है जहाँ छोटे किसानों और खेत मजदूरों की बहुतायत है। गाँव के पास संरक्षित जंगल है जहाँ से सरकारी अधिकारियों की मिलीभगत से चन्दन की लकड़ी की कटाई और तस्करी होती थी। 19 साल पहले, 20 जून 1992 को पुलिस, वन और राजस्व विभाग के सैकड़ों अधिकारियों—कर्मचारियों ने गाँव पर हमला कर दिया। उनका कहना था कि 63 टन चन्दन की लकड़ी जो उन्होंने बरामद की है, उसे गाँव वालों ने ही काटा है। तीन दिनों तक गाँव में बर्बरता का नंगा नाच किया गया।

गाँव के अधिकांश मर्द हमले की आशंका से पहले ही भाग कर जंगल में छिप गये थे। गाँव में केवल औरतें, बूढ़े और बच्चे ही मौजूद थे। उन मासूमों पर सरकारी कर्मचारियों ने जो जुल्म ढाये, उसने तैमूरलंग जैसे बर्बर आतातयियों को भी पीछे छोड़ दिया। उन्होंने पूरे गाँव को लूटा, पशुओं को मार डाला, जाति सूचक गालियाँ देकर लोगों को बेरहमी से पीटा, गाँव के सभी साधन यहाँ तक कि साइकिल और जमीनों के कागज तक छीन लिए, कुँए को इस्तेमाल करने लायक नहीं छोड़ा, घरों में आग लगा दी, गाँव की इकलौती दुकान को नष्ट कर दिया। बर्बरता की सारी हदें पार करते हुए उन्होंने 18 महीलाओं के साथ बलात्कार किया और उन्हें निर्वस्त्र करके बेरहमी से पीटा। इसके बाद औरतों बच्चों समेत सैकड़ों लोगों पर झूठे मुकदमें लगाकर जेल में डाल दिया गया। बाद में गाँव की बिजली काट दी गयी और गाँव में जाने वाली बस

को भी बन्द करा दिया। इस तरह गाँव को तहस—नहस करके लोगों को जंगल में खदेड़ दिया गया।

इस घटना के तीन सप्ताह बाद तमिलनाडु जनजातीय संघ के सचिव पी. सनमुगम एक मीटिंग के सिलसिले में वचाती के पड़ोसी गाँव में गये। उनकी पहल पर सीपीएम की राज्य इकाई ने इस मुद्दे को विधानसभा में उठाया और इस पूरी घटना की न्यायिक जाँच कराने और पीड़ितों के लिए तुरन्त राहत की माँग की। मुख्यमंत्री ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया उल्टे ऐसी किसी घटना से ही इनकार कर दिया। यहीं से एक लम्बे संघर्ष की शुरुआत हो गयी।

राज्य सरकार ने जब अपराधियों के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की तो सर्वोच्च न्यायालय में याचिका दायर की गयी। जिसने मद्रास उच्च न्यायालय को घटना की जाँच का आदेश दिया। पुलिस प्रशासन और राज्य सरकार ने जब मामले की जाँच में अड़गेबाजी की, तो मद्रास उच्च न्यायालय ने पुलिस और राज्य सरकार को जातिवादी और अपराधियों का समर्थक बताते हुए जाँच सीबीआई को सौंप दी। जब राज्य प्रशासन ने फिर भी जाँच में अड़ंगा लगाया तो एक न्यायाधीश को सीबीआई के साथ जोड़कर जाँच करायी गयी। आखिरकार 2 साल बाद, अप्रैल 1994 में अपराधियों के खिलाफ मुकदमा दर्ज हुआ।

राज्य सरकार ने अपराधियों को बचाने के लिए अपने एडवोकेट जनरल और सहायक सॉलिसिटर जनरल को भी मैदान में उतार दिया था। परन्तु सरकार को आखिरकार न्यायालय के आदेश पर 1.25 करोड़ रुपये की अन्तरिम सहायता, पीने के पानी की सुविधा और बिजली की आपूर्ति बहाल करने, गाँव वालों के राशन कार्डों को दुबारा बनवाने और कुछ घर बनवाने के लिए बाध्य होना पड़ा।

वचाती के जनजातीय लोगों की इस जीत में विभिन्न जनसंगठनों (मुख्यतः सीपीएम से सम्बन्धित) के धैर्यपूर्ण संघर्ष की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सवाल यह है कि राज्य के अधिकारियों ने एक गाँव के जनजातीय लोगों पर यह सुनियोजित, बर्बर और वीभत्स हमला क्यों किया तथा राज्य सरकार ने उन अपराधियों को बचाने में एड़ी—चोटी का जोर क्यों लगा दिया?

हमारे शासक भारत को दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र होने का दावा करते रहते हैं, लेकिन व्यवहार में जनता के

न्यायपूर्ण आन्दोलनों और सामान्य नागरिक अधिकारों के मामले में दमन—उत्पीड़न का रास्ता अपनाते हैं। और अगर मामला दलित जातियों, जनजातियों या आदिवासियों के समूह का हो, तो वे बर्बरता की सभी सीमाएँ लॉघ जाते हैं। वचाती की घटना शासन—सत्ता में शामिल लोगों की भी जनजातीय लोगों के प्रति नफरत और उन्हें इन्सान न समझने वाली अभिजात वर्गीय सोच को ही व्यक्त करती है।

हमारे देश में सतही सुधार तो हुए, लेकिन कोई ऐसा बुनियादी बदलाव नहीं हुआ जो पूरे समाज में उथल—पुथल कर दे और पुरानी मूल्य—मान्यताओं और रीति—रिवाजों को पूरी तरह बदल दे। आजादी के बाद जनजातीय लोगों को जो नाममात्र के अधिकार दिये गये, वे कागजी और दिखावटी ही साबित हुए। वास्तव में इस तरह के बुनियादी सामाजिक बदलाव, ठोस आर्थिक ढाँचे में बदलाव पर निर्भर होते हैं जो हमारे समाज में नहीं हुआ। ऊपर से थोपे गये पूँजीवाद के चलते

हमारा समाज लाखों विकृतियों का शिकार रहा। एक तरफ, पूँजीवादी लूट तंत्र कायम हुआ तो दूसरी ओर सामंती जातिवादी नफरत और शोषण—उत्पीड़न भी हमारे समाज में मजबूती से जड़ जमाये हुए है। अगर आर्थिक ढाँचे में बुनियादी परिवर्तन करके देश का भरपूर औद्योगिक विकास किया जाता जिससे लोगों के लिए समान रूप से रोजगार के भरपूर अवसर पैदा होते। ज्यादा से ज्यादा लोगों को खेती से बाहर रोजगार मिलता तो बहुत हद तक जातिगत उत्पीड़न को लगाम लगाया जा सकता था। लेकिन अपने निकृष्ट स्वार्थों के चलते आजादी के बाद हमारे शासकों ने स्वस्थ समाज की नींव नहीं डाली। वचाती, मिर्चपुर और देश भर में होने वाले दलितों—आदिवासियों के उत्पीड़न का यही मूल कारण है। न्याय और समता पर आधारित सामाजिक—आर्थिक ढाँचा ही इस बात की गारण्टी कर सकता है कि हमारे समाज में वचाती जैसी घटनाएँ न दुहरायी जायें।

मारुति—सुजुकी गुजरात की ओर

मारुति—सुजुकी कंपनी अपनी फ़ैक्ट्री हरियाणा के मानेसर से हटाकर गुजरात के मेहसाणा जिले में षिप्ट करेगी। इसके लिए कंपनी ने वहाँ 1500 एकड़ जमीन खरीदने का मन बनाया है। मारुति कंपनी वहाँ 18000 करोड़ रुपये का निवेश करेगी। नरेन्द्र मोदी ने इस फ़ैसले का स्वागत किया है। दरअसल गुजरात उद्योगपतियों के लिए लुभावनी जगह बनता जा रहा है। इसके पीछे एक ओर मोदी सरकार की पूँजीपतियों के प्रति सहृदयता की भावना है तो दूसरी ओर वहाँ की मजदूर यूनियनों का व्यवस्था—पोशक होना है।

सिंगुर में जमीन—अधिग्रहण के खिलाफ आन्दोलन के चलते टाटा ने अपनी नैनो कार की फ़ैक्ट्री मोदी के बुलावे पर गुजरात षिप्ट कर ली थी। यहाँ टाटा को 2000 करोड़ के निवेश पर अगले 20 वर्षों तक ब्याज में छूट, सस्ती जमीन, अन्य टैक्सों में छूट के जरिये 30,000 करोड़ का सरकारी अनुदान हासिल होगा। यही वजह है कि गुजरात पूरे एषिया का ऑटो—हब बनता जा रहा है। लेकिन दूसरी ओर हाल ही में प्रकाशित एक रिपोर्ट में बताया गया है कि शिक्षा, स्वास्थ्य और गरीबी के मामले में गुजरात की हालत दिनोंदिन बदतर होती जा रही है।

यहाँ मजदूरों किसानों की हालत बेहद खराब है। निवेश का माहौल बनाने के लिए किसानों की जमीनें छीनकर औनें—पौनें दामों में उद्योगपतियों को बेचीं जा रही हैं और मजदूर यूनियनों को नख—दंत विहीन बना दिया गया है। यहाँ की अधिकांश यूनियनें सरकार समर्थक और व्यवस्था पोशक हो चुकी हैं। इनमें जुझारूपन नहीं है। इन्ही में से एक भारतीय मजदूर संघ का नारा है— राष्ट्रहित—उद्योगहित—मजदूरहित यानि राष्ट्र के नाम पर उद्योग की सेवा करना ही यूनियन नेताओं का मकसद रह गया है। मजदूर हित तीसरे नम्बर पर आता है वह भी केवल कथनी में।

यही कारण है कि हड़ताल पर बैठे मानेसर फ़ैक्ट्री मजदूरों की न्यायोचित माँग मानने के बजाय मारुति उद्योग गुजरात में पनाह लेने जा रहा है। क्योंकि वहाँ फासीवादी जकडबंदी और लुंज—पुंज यूनियनों के चलते मजदूर संगठित होकर अपनी माँग नहीं उठा सकते। इससे उद्योगपतियों को मनमानी करने कि छूट मिल जाती है।

ईरान के खिलाफ अमरीका का नया पैतरा

अमरीका का नया पैतरा। उसने ईरान पर सऊदी अरब के राजदूत की हत्या का षडयंत्र रचने का आरोप लगाया है। राष्ट्रपति बराक ओबामा ने इस मामले में ईरान के खिलाफ सभी विकल्पों को खुला रखने और ईरान के खिलाफ कठोर प्रतिबन्ध लगाने की भी घोषणा की है।

अमरीकी सरकार का दावा है कि उसने एक ऐसी साजिश को विफल कर दिया है जिसका मकसद वशिंगटन स्थित सऊदी अरब के राजदूत की हत्या करना था और जिसमें ईरानी सरकार की मिली भगत थी। 11 अक्टूबर को न्यूयॉर्क की एक संघीय अदालत ने इस मामले में दो लोगों पर सऊदी राजदूत की हत्या के षडयंत्र का आरोप लगाया है।

ईरान ने कहा है कि ये आरोप मनगढ़ंत हैं।

ओबामा ने कहा कि जब तक अमरीकी सरकार को यह मालूम न हो कि वह इन आरोपों को किस तरह से साबित कर सकती है, तब तक ऐसा कोई मामला सामने नहीं लाती। अमरीका का कहना है कि ईरान सरकार को इस मामले की जानकारी चाहे नहीं भी रही हो, लेकिन ईरान की सरकार में शामिल किसी व्यक्ति की ऐसी गतिविधियों की जवाबदेही उसी की है।

उधर अल जजीरा ने इस पूरे मामले की बखिया उधेड़ते हुए इसे किसी जासूसी सिनेमा का कथानक बताया है। मजेदार बात यह है कि एफबीआई के निदेशक ने अपने बयान में भी यही कहा कि "यह साजिश किसी हॉलीवुड फिल्म की पटकथा जैसी है।"

असमाधेय और गहराते आर्थिक संकट तथा वॉलस्ट्रीट पर कब्जा करो आंदोलन की दोहरी मार झेल रही अमरीकी सरकार की यह ड्रामेबाजी कोई अनोखी बात नहीं। पहले भी वह अपने इशारे पर नाचने से इनकार करने वाले देशों के ऊपर ऐसे ही मनगढ़ंत आरोप लगा कर धौंसपट्टी करता रहा है।

लाखों करोड़ डॉलर का कर्ज लेकर दुनिया की निहत्थी और बेकसूर जनता पर कहर बरपाने, अपने देश की जनता को कंगाली में धकेलने, नाक तक कर्ज में डूबने और अपनी साख गवां चुकने के बावजूद अभी अमरीकी शासकों का कलेजा टंडा नहीं हुआ। वियतनाम की लड़ाई में मात खाने तथा इराक और अफगानिस्तान में करारी हार से उसने कुछ सबक नहीं लिया। अमरीका की नब्बे फीसदी जनता और पूरी दुनिया की जनता के दिलों में जो लावा जमा हुआ है, वह उसे खाक में मिलाएगी, ये तय है। बस समय की बात है।

नया भूख सूचकांक

चीन और पाकिस्तान से भी निचले पायदान पर भारत

अमरीकी संस्था 'अन्तरराष्ट्रीय खाद्य नीति शोध संस्थान' ने खुलासा किया है कि सन् 2010 के वैश्विक भूख सूचकांक में भारत अपने पड़ोसी देश चीन, पाकिस्तान, श्रीलंका और नेपाल से भी नीचे 67वें स्थान पर पहुँच चुका है।

इस सूचकांक में चीन 9वें स्थान पर, म्यांमार 50वें, पाकिस्तान 59वें, नेपाल 56वें और बांग्लादेश 68वें, इसके तुरन्त बाद भारत 67वें स्थान पर है। सरकार राग अलाप रही है कि हमारी आर्थिक विकास दर 8.5 प्रतिशत है। जब विकास दर इतनी अधिक है तो भूख सूचकांक में भारत इतना नीचे क्यों चला गया है। क्या यह हमारे शासकों के लिए शर्मनाक नहीं है?

फिलिस्तीन पर इजरायली कब्जा और बेलगाम लूट

गाजा और वेस्ट बैंक पर इजरायली कब्जे के चलते फिलिस्तीनी अर्थव्यवस्था को हर साल लगभग 4.4 अरब पौण्ड से हाथ धोना पड़ता है। यह राशि उसके अत्यल्प सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 85 फीसदी है। 29 सितम्बर को रम्माला में जारी एक रिपोर्ट में इस सच्चाई को उजागर किया गया।

रिपोर्ट में बताया गया है कि फिलिस्तीन अर्थतंत्र पर विनाशकारी प्रभावों के साथ-साथ 'कब्जे की तिजारत करने वाली' इजरायली सरकार अपने देश के सरमायेदारों को फिलिस्तीनी प्राकृतिक संसाधनों और पर्यटन क्षमता से मुनाफा बटोरने की खुली छूट देता है।

रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए फिलिस्तीनी अर्थरिटी के अर्थ-मंत्री अबु लिब्देह ने कहा कि "फिलिस्तीनी जनता अपने प्रयासों से जो कुछ भी हासिल कर सकती थी, हमलावर ताकतों अपने ही देश में स्वतंत्र लोगों के रूप में हमारी उस क्षमता से हमें वंचित करती हैं।" उन्होंने कहा कि "अंतरराष्ट्रीय समुदाय के आगे यह स्पष्ट करना जरूरी है कि इजराइल द्वारा शांतिवार्ता में सहयोग न करने की एक वजह यह भी है कि इस कब्जे से वह भरपूर मुनाफा बटोरता है।" रिपोर्ट के मुताबिक अगर फिलिस्तीन पर इजराइल का कब्जा नहीं होता तो वहाँ की अर्थव्यवस्था अब से दोगुनी होती और अंतरराष्ट्रीय समुदाय के दानदाताओं के फण्ड पर उसकी निर्भरता काफी कम हो जाती।

अर्थ मंत्रालय और एक स्वतंत्र संस्थान— एलायड रिसर्च इंस्टीट्यूट (जेरूसलम) द्वारा तैयार की गयी यह रिपोर्ट फिलिस्तीनी अर्थतंत्र को इजरायली कब्जे से होने वाले सालाना नुकसान का हिसाब लगाने का पहला प्रयास है। "हमने जो गणना की है, उसके अनुसार 2010 में 6.897 अरब डॉलर का नुकसान हुआ है जो फिलिस्तीन के अनुमानित सकल घरेलू उत्पाद का 84.9 फीसदी है।"

रिपोर्ट बताती है कि "इस नुकसान के अधिकांश हिस्से का सुरक्षा खर्चों से कोई लेना-देना नहीं है, बल्कि

यह फिलिस्तीनी जनता को अपने ही प्राकृतिक संसाधनों से वंचित करने के लिए इजराइल द्वारा थोपे गए कठोर प्रतिबंधों के कारण हुआ है, जिनमें से अधिकांश संसाधनों का दोहन खुद इजराइल ही करता है।

रिपोर्ट के अनुसार हमलावरों ने "फिलिस्तीनी अर्थतंत्र पर ढेर सारे प्रतिबन्ध लाद दिए हैं। वे फिलिस्तीनी जनता को अपनी जमीन के बहुत बड़े हिस्से पर खेती करने और प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करने से वंचित करते हैं, वे फिलिस्तीनियों को वैश्विक बाजार से अलग-थलग करते हैं और उनके भूभाग को छोटी-छोटी, एक दूसरे से अलग-थलग "छावनियों" में तब्दील कर दिया है।

गाजा की घेराबंदी के चलते आयात और निर्यात, जिस पर अर्थव्यवस्था बहुत अधिक निर्भर थी, भारी प्रतिबन्ध है। आधारभूत ढाँचा ध्वस्त होने तथा पार्ट-पुर्जे और अन्य जरूरी चीजों की कमी के कारण बिजली-पानी की इतनी आपूर्ति भी नहीं हो पाती कि उद्योग और खेती की जरूरत पूरी हो जाये।

बमबारी ने भौतिक सम्पदाओं और आधारभूत ढाँचे को तबाह कर दिया है। वेस्ट बैंक और गाजा, दोनों ही जगह रसायनों और उर्वरकों का 'दोहरा इस्तेमाल' होने का हौवा खड़ा करके उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है, क्योंकि इजराइल कहता है कि इनका इस्तेमाल हथियार बनाने में किया जा सकता है। इसने विनिर्माण और खेती को बहुत ही बुरी तरह प्रभावित किया है।

गाजा के भीतर जरूरी सामानों और मजदूरों की आवाजाही को सीमित करना भी एक भारी आर्थिक अवरोध है। वेस्ट बैंक के शहरों और कस्बों के बीच सीधे रास्ते से दूरी और फिलिस्तीनियों को जिस रास्ते से जाने के लिए बाध्य किया जाता है, उनकी तुलना भी इस रिपोर्ट में की गयी है। उदाहरण के लिए, वेस्ट बैंक के उत्तर में नुबलुस शहर और जौर्डन घाटी में स्थित अल जिपतलिक के बीच सीधे रास्ते की दूरी 58 किमी है, जबकि फिलिस्तीनियों को जिस रास्ते से जाने पर

मजबूर किया जाता है, उसकी दूरी 172 किमी है।

मृत सागर तक फिलिस्तीनियों की पहुँच पर रोक लगाने का मकसद उन्हें खनिज, नमक और पर्यटन से होने वाली आय से वंचित करना है, जिससे इजराइल को सीधा लाभ मिलता है। रिपोर्ट बताती है कि इजरायली कम्पनियों द्वारा बनाये और बेचे जाने वाले मृत सागर सौन्दर्य प्रसाधनों और त्वचा रक्षक उत्पादों से इजराइल को डेढ़ करोड़ डॉलर सालाना की आमदनी होती है।

इजरायली पूँजीपति वेस्ट बैंक के खदानों और उत्खनन से भी भरपूर मुनाफा कमाते हैं। वेस्ट बैंक के जल स्रोतों से इजरायली बस्तियों तथा वहाँ के उद्योगों और खेती के लिए जलापूर्ति की जाती है। रिपोर्ट के मुताबिक वहाँ के तीन जलाशयों से फिलिस्तीन की तुलना में इजरायल 10 गुना अधिक पानी लेता है।

1967 से आज तक लगभग 25 लाख पेड़ काटे जा चुके हैं, जिनमें जैतून के जंगल भी शामिल हैं।

फिलिस्तीनी किसान या तो अपनी जमीन गँवा चुके हैं या खेती नहीं कर पाते। अबू लिब्देह ने बताया कि “वेस्ट बैंक और पूर्वी जेरूसलम के 6,20,000 निवासी 64,000 दुनम जमीन पर खेती करते हैं जबकि वेस्ट बैंक के 40 लाख निवासी केवल एक लाख दुनम जमीन पर खेती करते हैं। एक दुनम 1000 वर्ग मीटर के बराबर होता है।

उन्होंने कहा कि “हम अपना राज्य हासिल करने की तैयारी कर रहे हैं, इसलिए हम टिकाऊ और व्यावहारिक फिलिस्तीन का निर्माण करना चाहते हैं जो आर्थिक रूप से व्यवहार्य, जलवायु की दृष्टि से मजबूत और सामाजिक रूप से वैध हो।

(गार्जियन में प्रकाशित और द हिन्दू में 1 अक्टूबर को पुनर्प्रकाशित हैरियेट शेरउड के अंग्रेजी लेख “इजरायल प्रॉफिटिंग फ्रॉम ओक्यूपेशन” का हिंदी अनुवाद)

“नौकरानियाँ” नहीं घरेलू कर्मचारियों का जयपुर में सम्मेलन

पिछले महीने जयपुर में 3000 घरेलू कर्मचारी इकट्ठा हुए। उनका मानना है कि उन्हें नौकरानी की जगह घरेलू कर्मचारी का दर्जा मिले और कर्मचारियों को मिलने वाले सभी अधिकार उन्हें हासिल हों। पूरे देश में और खासकर बड़े शहरों में इनकी संख्या बहुत ज्यादा है जिनका वेतन माँग-पूर्ति के आधार पर तय होता है। जब उनसे सस्ता कोई अन्य कर्मचारी मिल जाता है तो उन्हें काम से हटा दिया जाता है। इसके अलावा अक्सर मालिक छुट्टी लेने पर उनके वेतन में कटौती करते हैं। यहाँ तक कि एक महीने में वे कितनी छुट्टियाँ लेंगी यह भी पहले से तय नहीं होता। काम की परिस्थितियाँ प्रतिकूल हैं। बर्तन टूट जाने पर उन्हें गाली-गलौज सुनना पड़ता है या आर्थिक दण्ड भुगतना पड़ता है। ज्यादातर घरों में गरीब परिवारों से आने वाली 15-25 साल की मजबूर लड़कियाँ काम करती हैं जिनका आये दिन यौन शोषण होता है, उन्हें कितनी जलालत झेलनी पड़ती है, उसकी कल्पना करना मुश्किल है।

कुछ लोग कहते हैं कि “उनकी नौकरानी घरेलू सदस्य की तरह है” लेकिन वे घर में उपलब्ध सहूलियते, जैसे- टॉयलेट, किचन या कुर्सी इस्तेमाल नहीं कर सकतीं। उन्हें इंसान जैसी बराबरी तक नहीं मिलतीं। घरेलू सदस्य समझना तो दूर की बात है। जयपुर सम्मेलन में उपस्थित इन कर्मचारियों का मानना है कि जबरदस्ती काम से निकालने, बालश्रम और दूसरे अत्याचार का विरोध करने के लिए संगठन बनाने का अधिकार होना चाहिए, तभी उनकी दयनीय स्थिति में सुधार होगा। लेकिन कार्यस्थल पर यौन हिंसा की शिकार महिलाओं की सुरक्षा कानून-2010 में इन्हें शामिल नहीं किया गया है। इससे सरकार की नीयत पर सवाल उठना लाजमी है। अपनी सामाजिक स्थिति का एहसास कराने के लिए उन्हें संगठित होकर शोषण और अत्याचार के खिलाफ आवाज बुलंद करनी होगी।

यह सम्मेलन इस दिशा में एक शानदार कदम है।

दिवालिया होता ग्रीस और यूरोजोन में भूचाल

कल तक ग्रीस (यूनान) एक विकसित देश था। आज वह भयानक कर्ज संकट का शिकार है और दिवालिया होने के कगार पर है। इसके चलते साम्राज्यवादी देशों के शेयर बाजारों में भारी गिरावट आ रही है। आयरलैंड, पुर्तगाल, स्पेन और इटली में भी कर्ज संकट लगातार फैलता जा रहा है। पूरे यूरोजोन में ही आज भूचाल आया हुआ है। यूरोजोन इस आर्थिक संकट से निकलने के लिए हाथ-पाँव मार रहा है, लेकिन इससे निजत दिलाने के लिए यूरोजोन में कर्ज संकट पर जो सहमति बनी है उससे और भी बड़े महासंकट के पैदा होने की संभावना है। इटली का कर्ज 1.7 अरब डॉलर है। प्रधानमंत्री सिल्वियो बर्लुस्कोनी ने वादा किया है कि वे दो साल के भीतर कर्ज घटाने की योजना के तहत वे बजट में कटौती करके इसे पूरा करेगा। यानी वे जन सुविधाओं में कटौती करेंगे, सरकारी सम्पत्ति को देशी-विदेशी कम्पनियों को बेचेंगे और सार्वजनिक शहरों के कर्मचारियों की चटनी करेंगे। साथ ही वहाँ रिटायमेंट की आयु दी जाएगी ताकि नयी भरती न करनी पड़े।

ग्रीस का कर्ज संकट तो इटली से बहुत बड़ा है और पूरे यूरोप को ही महामंदी की ओर धकेल रहा है। जर्मन चांसलर *अंगेला मर्कल* ने पहले ही चेतावनी दी थी की द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप की यह सबसे बड़ी मंदी और गंभीर आर्थिक संकट है। यूरोजोन में ग्रीस को 140 अरब डॉलर का कर्ज देने और इसका आधा कर्ज माफ करने पर सहमती बनी है। इसके साथ यूनान पर यह शर्त लादा गया है की वह निजीकरण को बढ़ावा दे तथा एक लाख कर्मचारियों की छँटनी और बाकि सरकारी कर्मचारियों का वेतन घटा कर आधा करे।

यूरोपीय संघ और अन्तरराष्ट्रीय मुद्राकोष की कठोर शर्तों को लागू करने में ग्रीस सरकार पहले ही अपनी सारी हदें पार कर चुकी है। वहाँ की जनता ने पहले ही इन कटौतियों के विरोध में बड़े-बड़े विरोध प्रदर्शन किये जो आज भी जारी हैं।

ग्रीस की जनता यूरोजोन की इस सहमती और शर्तबन्दी के पक्ष में बिलकुल नहीं है। सरकार इस हकीकत को भाँप रही है। इसलिए प्रधानमंत्री पपेंद्रों ने अपनी सोशललिस्ट पार्टी की एक बैठक में बताया कि ग्रीस का कर्ज 140 अरब डॉलर घटाने के लिए प्रस्तावित पैकेज पर देश की जनता ही अंतिम निर्णय लेगी। ग्रीस की जनता जो आदेश देगी, हम उसी का पालन करेंगे इस तरह उन्होंने इस मुद्दे पर जनमत संग्रह की घोषणा कर दी। हालाँकि अभी इसकी कोई अंतिम तिथि तय नहीं हुई है। जनमत

संग्रह की बात आयी नहीं की यूरोजोन में अफरा-तफरी मच गयी। यूरोप में कारोबार के दौरान लन्दन के फुटसी में 2.9 प्रतिशत, जर्मनी के फ्रंकफर्ट में 4.4 प्रतिशत और फ्रांस के शेयर बाजार में 4.3 प्रतिशत की गिरावट हुई। जनमत संग्रह की घोषणा से हुई गिरावट के झटके आस्ट्रेलिया, जापान दक्षिण कोरिया और यहाँ तक की भारत के शेयर बाजार में भी महसूस किये गए। भारत सरकार ने स्वीकार किया की ग्रीस के कर्ज संकट और यूरोप की मंदी का यहाँ सीधा असर पड़ेगा और हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिए। अपनी नवउदारवादी नीतियों के जरिये यूरोजोन ने ही ग्रीस को नरक में धकेला और अब इसके लिए खुद उसे ही दोष दिया जा रहा है। निकोलस सरकारों अब कहते हैं की 2001 में ग्रीस को यूरोजोन में शामिल करना ही गलत था। इस बौखलाहट की वजह यह है की यूनान की जनता यूरोजोन की इन शर्तों को मानने के लिए तैयार नहीं है।

जिन नवउदारवादी नीतियों के चलते एक विकसित देश ग्रीस का दिवाला पीटने को है, उसे ही आज दुनिया भर के साम्राज्यवादपरस्त शासक आँख मूंद कर आगे बढ़ा रहे हैं। निजी पूँजीपतियों के अंधाधुंध मुनाफे और लूट की हवस ने ही ग्रीस का बेड़ा गर्क किया, जबकि उन्हीं नीतियों के जरिये वे अपने देश का बेड़ा पर करना चाहते हैं। यही कारण है कि दुनिया भर में जनता की दुर्दशा बढ़ रही है और उनके सब्र का बांध टूट रहा है। पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण हर जगह जनाक्रोश का लावा फूट रहा है।

छपते-छपते

राहत पैकेज की शर्त के रूप में जनसुविधाओं में कटौती और सरकारी सम्पत्ति की बिक्री से पहले ग्रीस में जनमत संग्रह पर अड़े प्रधानमंत्री पापेन्द्रू ने यूरोजोन के आगे घुटने टेक दिये और राजनीतिक संकट हल करने के एिल सर्वदलीय सरकार का विकल्प स्वीकार कर लिया। उन्होंने प्रधानमंत्री पद से इस्तीफा दे दिया। उनकी जगह सोशललिस्ट और कंजरवेटिव दोनों पार्टियों के समर्थन से एक बैंकपति - लुकास पापादेमास को नया प्रधानमंत्री को नियुक्त किया गया है। उन्हें ग्रीस की जनता ने नहीं चुना है। यूरोजोन की शर्तों को कड़ाई से लागू करने की जिम्मेदारी अब इसी बैंकपति के कंधों पर है। यानी संकट की घड़ी में राजनीतिक शक्ति से अर्थनीति तय नहीं होती, अर्थनीति के अनुरूप राजनीतिक शक्ति (गठबन्धन सरकार) का भाग्य तय होता है।

मारुति आंदोलन : लड़ाई सिर्फ स्थगित हुई है

देवेन्द्र प्रताप

मारुति सुजुकी (इंडिया) लिमिटेड के मजदूरों ने लगभग तीन महीने तक धैर्य और साहस के साथ एकजुट होकर शानदार लड़ाई लड़ी। लेकिन यूनियन नेताओं की दगाबाजी के चलाते इस आंदोलन को एक करारा झटका लगा है। मजदूर आंदोलन के बिखराव और दुर्बलता के मौजूदा दौर में यह कोई अचरज की बात नहीं। जरूरत यह है कि इस पूरे मसले पर गहराई से विचार किया जाये और इस संघर्ष के सकारात्मक-नकारात्मक अनुभवों से सीखते हुए मजदूर आंदोलन को नयी ऊँचाईयों तक ले जाने में मदद की जाये।

मारुति उद्योग लिमिटेड का मारुति सुजुकी (इंडिया) लिमिटेड के रूप में चोला बदलने की कहानी हमारे देश के हुक्मरानों द्वारा साम्राज्यवादी मुल्कों और उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सामने लगातार समर्पण की दास्तान है। 1981 में भारत सरकार ने मारुति इंडिया लिमिटेड की स्थापना एक सार्वजनिक कम्पनी के तौर पर की थी। 1982 में इस कम्पनी में जापानी कम्पनी सुजुकी का शेयर महज 16 प्रतिशत था। धीरे-धीरे मारुति कम्पनी में सरकार का शेयर घटता गया और सुजुकी का शेयर बढ़ता गया। आज सुजुकी ही इस कम्पनी की वास्तविक मालिक बन गयी है। यह सब बाजार की स्वस्थ प्रतियोगिता के नतीजे के रूप में नहीं हुआ। हमारे हुक्मरानों ने जानबूझकर जबर्दस्त मुनाफा देने वाले इस उद्यम को साजिशान एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी के हाथों सौंप दिया।

जिस '80 के दशक में जापानी कम्पनी सुजुकी, भारत की सार्वजनिक कम्पनी मारुति की पार्टनर बनी, वह दशक भारत में भावी मजदूर विरोधी बदलावों की पूर्वपीठिका तैयार करने के लिए जाना जाता है। इसी दशक में पहली बार (1982) भारत में एशियाड का आयोजन हुआ। एशियाड के चार साल बाद भारत में नयी शिक्षा नीति लागू होती है। इस शिक्षा नीति के कारखाने से तैयार लोग भविष्य में "महाशक्तिशाली भारत" के लिए 'कलपुर्जे' बनने वाले थे। जाहिर है कि यह एक ऐसा दौर था, जब भारत का उभरता हुआ मध्यवर्ग भी यूरोप और अमरीका के मध्यवर्ग की बराबरी करने के सपना बुनने लगा था। आज हमारे देश के मध्यवर्ग का वह हिस्सा, जो अमरीका

की हर 'आतंकी कार्रवाई' पर खुश होता है, उसे इसी दौर में खाद-पानी देकर तैयार किया गया। 1991 में जब भारत सरकार ने नयी आर्थिक नीति लागू की तब एक तरफ जहाँ समूचे देश के मजदूरों ने इसका तगड़ा विरोध किया, वहीं साम्राज्यवाद और पूँजीवादपरस्त मध्यवर्ग के एक तबके ने निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों का गुणगान करने का काम किया। भारत के पूँजीवादी मीडिया ने इसी मध्यवर्ग के सुर में सुर मिलाया और धीरे-धीरे एक ऐसी मानसिकता तैयार की, जैसे भारत का विकास साम्राज्यवादी पूँजी के बेरोकटोक प्रवेश और सरकारी उद्यमों के निजीकरण के बिना सम्भव ही नहीं है। जाहिर है मजदूर विरोधी इन नीतियों के लागू होने के रास्ते में श्रम कानून बाधक थे, इसलिए देश की पूँजीवादी सरकारों ने पहले से ही श्रम कानूनों की भोथरी धार को और अधिक कुंद करने का काम किया। जनतंत्र का लबादा ओढ़ने वाली देश की पूँजीवादी पार्टियों का चरित्र भी इसी के साथ बेपर्दा होना शुरू हुआ। इसलिए 1982 में जब सुजुकी ने मारुति के साथ साझेदारी का निर्णय लिया तो उसने कोई जुआ नहीं खेला था। सुजुकी के मालिकान इस बात को बखूबी जानते थे कि भारत सरकार कभी भी उनके खिलाफ अपने देश की मेहनतकश जनता का पक्ष नहीं लेने वाली। हुआ भी वही। मारुति के साथ भागीदारी के बाद जहाँ एक तरफ सुजुकी का शेयर लगातार बढ़ता गया, वहीं दूसरी ओर भारत सरकार का शेयर घटता गया। दस साल बाद यानी 1992 में भारत सरकार ने मारुति का निजीकरण करके मारुति के मजदूरों को पूरी तरह मैनेजमेंट के रहमोकरम पर छोड़ दिया।

इस पृष्ठभूमि में देखें तो 4 जून को शुरू हुआ आंदोलन ऐसा आंदोलन नहीं था, जो अचानक पैदा हो गया हो। इसकी नींव उसी समय पड़ गई थी, जब भारत सरकार ने मारुति का निजीकरण करके उसके अंदर भारत सरकार का बिल्ला टाँगे और जापानी कम्पनी सुजुकी के चाकर के रूप में वहाँ अपना प्रबंध निदेशक नियुक्त किया। सँया भये कोतवाल अब डर काहे का। यहीं से मजदूरों के साथ मनमानी और मैनेजमेंट के साथ उनका टकराव बढ़ने लगा। वर्ष 2000 में प्रोत्साहन

भत्ते को लेकर शुरू हुआ मारुति सुजुकी के मजदूरों का आंदोलन मैनेजमेंट के ऐसे ही तानाशाही रवैये व्यवहार का नतीजा था। इस आंदोलन की पूँज संसद तक सुनाई पड़ी। लेकिन, शायद उस समय मजदूरों को अपने मालिकान की वास्तविक ताकत और कुटिलता का अंदाजा नहीं था। वे सोचते थे कि उनकी बात संसद में जाने पर उसे सुना जाएगा। कहीं न कहीं उन्हें इस बात का भरोसा था कि देश के राजनेता उनकी जायज माँगों के लिए उनका पक्ष लेंगे, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। संसद में इस मसले को लेकर पार्टियों ने नाटक किया, बाद में लोकसभा अध्यक्ष ने इस मसले पर सर्वदलीय बैठक बुलायी, लेकिन कम्पनी ने इस सर्वदलीय बैठक के सुझावों को मानने से इंकार कर दिया। फिर भी कम्पनी के मजदूर मारुति के मालिकान की वास्तविक ताकत का सही अंदाजा नहीं लगा सके। हकीकत यही है कि उसे भारत की किसी भी संस्था (चाहे वह न्यायालय हो या फिर संसद) की तनिक भी परवाह नहीं है। सच कहा जाए तो ये सभी संस्थाएँ पूँजीपतियों के हितों की पूर्ति के लिए ही बनायी गयी हैं और वे मूलतः उन्हीं के हितों की पूर्ति करती हैं। नतीजतन इस आंदोलन को बुरी तरह पराजय का मुँह देखना पड़ा। कम्पनी ने तीन हजार से ज्यादा स्थाई मजदूरों की छंटनी की और कम्पनी के काम का बड़ा हिस्सा ठेका मजदूरों के हवाले कर दिया। जो लोग कम्पनी में बचे, उनको मैनेजमेंट की ओर से जलील किया गया।

इस आंदोलन ने गुड़गाँव ही नहीं, पूरे देश के मजदूरों के सामने संसद, पूँजीवादी पार्टियों, न्यायालय और मीडिया की जनपक्षधरता को तार-तार कर दिया। इसके बावजूद मजदूरों का इन कानूनी संस्थाओं से मोहभंग नहीं हुआ। अपनी व्यापक और ठोस एकता बनाने और पूँजीपति वर्ग द्वारा मजदूर वर्ग के शोषण के खात्मे की निर्णायक और लम्बी लड़ाई की तैयारी करने के बजाय वे कहीं न कहीं शार्टकट से सुविधाएँ हासिल करने की मानसिकता से प्रभावित रहे। दूसरी बात, चूँकि हर कम्पनी की यूनियन किसी ऐसे केंद्रीय ट्रेड यूनियन से ही जुड़ी होती है जो किसी न किसी चुनावी राजनीतिक पार्टी से जुड़ी होती है, इसलिए कम्पनी के मजदूरों का अवसरवादी, चुनावबाज पार्टियों और अर्थवाद की राजनीति करने वाली उनकी केंद्रीय ट्रेड यूनियनों से मोहभंग नहीं हो पाता। इसके अलावा उनके पास फिलहाल कोई विकल्प भी नजर नहीं आता। जहाँ तक गुड़गाँव क्षेत्र में क्रांतिकारी राजनीति करने वाले मजदूर संगठनों का सवाल है, वे इस तरह के हर आंदोलन में एक बेहद नेक इरादे से शामिल जरूर होते हैं, लेकिन कुल मिलाकर ऐसे आंदोलनों में उनकी स्थिति किसी तमाशबीन से ज्यादा नहीं हो

पाती। मजदूरों के इन शुभचिंतकों से बेहद संगठित और शातिर पूँजीपति वर्ग से निपटने की बात तो दूर, किसी एक कारखाने में भी किसी लड़ाई को जीत तक ले जाने की कल्पना करना मुश्किल ही लगता है।

जहाँ तक मारुति सुजुकी मैनेजमेंट की बात है, वह मजदूरों के हर हमले का मुँहतोड़ जवाब देने के लिए पहले से तैयार रहता है। कम्पनी में मैनेजमेंटपरस्त यूनियन के गठन को भी इसी रूप में देखा जाना चाहिए।

इस वर्ष 4 जून को शुरू हुए मारुति सुजुकी में मजदूर आंदोलन की जड़ में यही यूनियन थी। जब कम्पनी के मजदूर अपने अनुभव से इस बात को जान गए कि इस यूनियन के जरिये वे अपनी माँगों के लिए मैनेजमेंट पर कोई दबाव नहीं बना सकते, तो उन्होंने 4 जून को नयी यूनियन के गठन के लिए आंदोलन शुरू किया। संविधान और श्रम कानूनों के बारे में ककहरा जानने वाला कोई भी व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह जानता है कि संगठित होने या यूनियन बनाने का अधिकार एक संविधान प्रदत्त अधिकार है, जो देश के हर नागरिक को हासिल है। इस आंदोलन में ठेका और अप्रेंटिस मजदूरों की भी अच्छी खासी तादात थी। शासन-प्रशासन किस तरह मजदूरों का साथ देता है, इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि जब मजदूरों ने नयी यूनियन के गठन के लिए श्रम आयुक्त कार्यालय, चंडीगढ़ में इससे सम्बन्धित दस्तावेज प्रस्तुत किये, तो श्रमायुक्त महोदय ने उन कागजों को मारुति मैनेजमेंट के पास भेज दिया। नतीजतन आंदोलन के 11 नेताओं को निकालने के बाद कम्पनी ने मजदूरों की छंटनी और उनके दमन-उत्पीड़न का सिलसिला शुरू कर दिया। इस आंदोलन में शामिल ठेका मजदूरों को सबसे ज्यादा मुसीबतें झेलनी पड़ीं, जिनके सिर पर हरदम लटकती छंटनी की तलवार उन्हें पागल किए रहती थी। इसके बावजूद वे इस आंदोलन में लगातार डटे रहे। जहाँ तक केंद्रीय ट्रेड यूनियनों की बात है, तो उनका शुरू से मुख्य जोर आंदोलन से ज्यादा से ज्यादा फायदा उठाने पर ही केंद्रित रहा। इन्होंने मजदूर वर्ग को अपनी माँगों के लिए आंदोलन करने और एकताबद्ध होने का पाठ तो जरूर सिखाया, लेकिन यह सब सिर्फ इसलिए ताकि मालिकों से कुछ सहूलियतें हासिल की जा सके। उनका यही रवैया मजदूरों को अवसरवादी और यथास्थितिवादी राजनीति का पिछलग्गू बना देता है। अगर यह सब लम्बे समय तक जारी रहता है और ट्रेड यूनियन से जुड़े नेता मजदूर वर्ग के ऐतिहासिक ध्येय के संघर्ष से खुद को नहीं जोड़ते, तो उनमें से एक तबका ऐसा भी पैदा होता है, जो मालिकों का एजेंट

बनकर, मजदूरों का काम करने के एवज में उनसे कमीशन खाकर अपने को पतन के गड्ढे में गिरा लेता है। अगर ये ट्रेड यूनियनों चाहतीं तो अपनी इलाकाई एकता कायम करके मारुति मैनेजमेंट को मजदूरों के सामने घुटने टेकने को विवश कर सकती थीं। अगर वे इस इलाके में काम करने वाले 20 लाख से ज्यादा मजदूरों में से ऑटोमोबाइल उद्योगों में काम करने वाले 10 लाख मजदूरों के एक चौथाई को भी सड़क पर उतार पाते, तो नतीजा कुछ और होता। बहरहाल आज चुनावबाज पार्टियों से जुड़ी ट्रेड यूनियनों से इस तरह की उम्मीद करना बेमानी ही होगा। आज के दौर में हकीकत तो यही है कि ट्रेड यूनियनों का बड़ा हिस्सा ऐसा है, जो मजदूर वर्ग के ऐतिहासिक ध्येय के बारे में सोचता तक नहीं। इसलिए वहाँ से अगर सोनू गुर्जर और शिवकुमार जैसे लोग पैदा हों, तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। बहरहाल इस बार के आंदोलन के चलते कम्पनी को 74,500 कारों यानी करीब 2200 करोड़ रुपये का नुकसान हुआ। इस आंदोलन के दौरान मानेसर प्लांट के मारुति सुजुकी कम्पनी ने 94 लोगों को कम्पनी से बाहर निकाल दिया था। समझौते के बाद 64 कर्मचारियों को काम पर वापस लिया गया, जबकि 30 अभी भी बाहर हैं। मीडिया की खबरों की मानें तो कम्पनी ने अंदरखाने इनके साथ लाखों रुपये देकर सेटलमेंट किया है। आंदोलन के दो प्रमुख नेताओं शिवकुमार और सोनू गुर्जर को भी 40 लाख से ऊपर देकर मारुति ने खरीद लिया। आंदोलन के एक नेता ऋषिपाल भी बीच में ही कम्पनी के साथ सेटलमेंट करके किनारे हो गए। इस समय ज्यादातर लोग मजदूर वर्ग के इन गद्दारों को ही कोसने में लगे हुए हैं, जबकि जरूरत ऐसे गद्दारों को पैदा करने वाली राजनीति को समझने और उसे समाप्त करने के रास्ते को तलाश करने की है। जिस तरह की राजनीति ट्रेड यूनियनों आज कर रही हैं, उसमें सोनू और शिवकुमार जैसे लोग पैदा होते रहेंगे। इसलिए इनसे निजात पाने के लिए मजदूरों को क्रांतिकारी राजनीति से लैस होना और अपने ऐतिहासिक मिशन को पहचानना होगा। मारुति के मजदूरों के बारे में यह कहना बिल्कुल सही नहीं होगा कि अपने नेताओं के बिकने के बाद वे निराश हो गए हैं। क्योंकि वे ट्रेड यूनियन की राजनीति में इस तरह की चीजों से परिचित होते हैं। वे निराश होने के बजाय आंदोलन की इस परिणति को देखकर भयंकर गुस्से में हैं। इसलिए मारुति सुजुकी मैनेजमेंट अपनी इस चाल पर खुशफहमी न पाले, क्योंकि मजदूर वर्ग अपनी हर हार से सीखता है और अगली बार पहले से ज्यादा फौलाद बनकर सामने आता है।

विकिलीक्स ने किया खुलासा

विकिलीक्स ने किया खुलासा
लोकतंत्र बन गया तमाशा

सत्य हो गया झबरा झबरा
चेहरा हुआ चकित चितकबरा
जो चेहरा था अच्छा खासा

सत्ता के पैरों में घुंगरू
बजता राजनीति का डमरू
ढोल बजे, बजता है ताशा

टूटी हुई कसम तहियाई
जेबों भरी रकम तहियाई
प्रजातंत्र का पल्टा पासा

इसकी उसकी करती विनती
घूरे पर है जूठन बिनती
आने वाले कल की आशा

सारा दूध पी गयी बिल्ली
जय दिल्ली जय जय जय दिल्ली
पूरे भारत को ही फाँसा

आसमान को चूम रहा है
बना सुर्खरू घूम रहा है
जिसने दिया देश को झाँसा

बात कर रहा है बीहड़ से
उलटे लटकें चमगादड़ से
सच उड़ता फिरता कौआ सा

मन की नहीं टटोल रहा है
कोई न कुछ भी बोल रहा है
गुंगी है, बहरी है भाषा

खुद से हारे थके उजाले
फोड़ों जैसे पके उजाले
अँधियारे दे रहे दिलासा

विकिलीक्स ने किया खुलासा
लोकतंत्र बन गया तमाशा

—यश मालवीय

नाटो युद्ध, झूठ और व्यापार

फिदेल कास्त्रो रूज़

ढेर सारे लोग जानते हैं कि सितम्बर 1969 में अनोखे चरित्र वॉला एक अरब बेदोइन सैनिक, मुअम्मर अल-गद्दाफी ने मिस्री नेता गमाल अब्दुल नासिर के विचारों से प्रेरित होकर सशस्त्र सैनिकों के दिल में लीबिया के बादशाह इदरिस प्रथम की सत्ता को उखाड़ फेंकने का एक आन्दोलन प्रवर्तित किया। ट्यूनीशिया और मिस्र के बीच उत्तरी अफ्रीका में स्थित लीबिया लगभग पूरी तरह रेगिस्तान से ढका, बहुत ही कम आबादी वाला देश है।

लीबिया के महत्त्वपूर्ण मूल्यवान उर्जा स्रोतों की दिनों-दिन खोज होती जा रही थी।

त्रिपोली इलाके के बंजर रेगिस्तानी चरवाहों के आदिवासी बेदोइन परिवार में जन्मे, गद्दाफी पूरी तरह उपनिवेशवाद विरोधी थे। सबको पता है कि उनके दादा इटली के हमलावरों से लड़ते हुए मारे गये थे जब 1911 में उन लोगों ने लीबिया पर हमला किया था। उपनिवेशवादी शासन और फासीवाद ने वहाँ के हर व्यक्ति की जिन्दगी बदल दी थी। यह भी कहा जाता है कि उनके पिता जो औद्योगिक मजदूर थे, उन्हें जेल में बन्द कर लिया गया था।

गद्दाफी के विरोधी भी बताते हैं कि जब वे छात्र थे, तभी से उनकी तीक्ष्ण बुद्धि स्पष्ट रूप से दिखाई देती थी। बादशाह के खिलाफ अपनी गतिविधियों के चलते उन्हें हाई स्कूल से निकाल दिया गया था। किसी तरह उन्होंने किसी दूसरे स्कूल में नाम लिखवाया और आगे चलकर 21 वर्ष की उम्र में बेंगाजी विश्वविद्यालय से कानून की डिग्री हासिल की। फिर उन्होंने बेंगाजी सैनिक कालेज में दाखिला लिया जहाँ उन्होंने आजाद अधिकारियों का गुप्त यूनियन नामक आन्दोलन खड़ा किया। बाद में ब्रिटिश मिलिट्री अकादमी से अपनी पढ़ाई पूरी की।

इसी पृष्ठभूमि में हम लीबिया में और अन्य राजनीतिक नेताओं पर उनके असाधारण प्रभाव को

समझ सकते हैं, चाहे वे लोग आज गद्दाफी के समर्थक हों या न हों।

उन्होंने अपना राजनीतिक जीवन असंदिग्ध रूप से क्रान्तिकारी घटनाओं के साथ शुरू किया।

मार्च 1970 में विराट राष्ट्रवादी प्रदर्शनों के बाद वे ब्रिटिश सैनिकों से देश को खाली करवाने में कामयाब रहे तथा जून में अमरीका ने त्रिपोली के निकट वायु सेना के विशाल अड्डे को खाली कर दिया और उसे लीबिया के सहयोगी, मिस्र के प्रशिक्षकों को सौंप दिया।

1970 में विदेशी पूँजी की हिस्सेदारी वाली कई पश्चिमी तेल कम्पनियाँ और बैंकिंग कम्पनियाँ क्रान्ति से बुरी तरह प्रभावित हुईं। 1971 के अन्त में कुख्यात ब्रिटिश पेट्रोलियम का भी यही हश्र हुआ। कृषि क्षेत्र में सभी इटालियन सम्पत्तियों को जब्त कर लिया गया तथा उपनिवेशवादियों और उनके वंशजों को लीबिया से बाहर खदेड़ दिया गया।

विराट कम्पनियों का नियन्त्रण राज्य के हस्तक्षेप से निर्देशित होता था। उस देश में उत्पादन का स्तर पूरे अरब जगत में सबसे ऊँचा था। जुआ खेलना और शराब पीना वर्जित था। महिलाओं की परम्परागत रूप से सीमित कानूनी स्थिति को बेहतर बनाया गया था।

लीबियाई नेता क्रान्तिवादी सिद्धान्तों में लिप्त हो गये थे जो साम्यवाद और पूँजीवाद दोनों के विरुद्ध था। यही वह मंजिल थी जब गद्दाफी ने खुद को एक ऐसी चीज के बारे में सिद्धान्त निरूपण के लिए समर्पित किया जिसकी इस विश्लेषण में कोई जगह नहीं थी सिवाय इसके कि 1969 के संवैधानिक घोषणा के पहले अनुच्छेद में महान समाजवादी लीबियाई जम्हीरिया के "समाजवादी" चरित्र को रेखांकित किया गया था।

में इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि अमरीका और उसके सहयोगी देशों की मानवाधिकार में कभी भी रुचि नहीं रही है।

सुरक्षा परिषद में जो बर्से का छत्ता बन रहा है, जैसा कि जेनेवा मुख्यालय पर मानवाधिकार परिषद की बैठक के समय न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्र आम सभा के दौरान हुआ, वह शुद्ध नौटंकीबाजी है।

मैं राजनीतिक नेताओं की प्रतिक्रियाओं को पूरी तरह समझता हूँ, जो इतने सारे अन्तर्विरोधों और नपुंसक बहसों में उलझे हुए हैं, क्योंकि उन्हें स्वार्थी और समस्याओं के उलझे हुए जाले की हिफाजत करनी है।

हम सब अच्छी तरह जानते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ के स्वार्थी सदस्यों का चरित्र, उनका वीटो का अधिकार तथा नाभिकीय हथियारों और कुछ दूसरी संस्थाओं पर उनका कब्जा ही मानव जाति के ऊपर अपने विशेषाधिकारों और स्वार्थी को थोपने के मूल कारण हैं। उनमें से ढेर सारे मुद्दों पर कोई सहमत हो या न हो, लेकिन कोई भी उन्हें उचित और नैतिक साधन नहीं मान सकता।

साम्राज्यवाद अब घटनाओं को गद्दाफी के इर्द-गिर्द घूमते हुए देखना-दिखाना चाहता है चाहे वे उसके लिए जिम्मेदार हों या न हों, क्योंकि लीबिया में सैनिक हस्तक्षेप करना और अरब जगत में क्रान्तिकारी लहरों के उभार को आघात पहुँचाना उसकी जरूरत है। अब से पहले उन्होंने एक भी शब्द नहीं बोला था। वे अपना मुँह बन्द किये रहे और अपना कारोबार जारी रखा।

गुप्त लीबियाई विद्रोह जिसे यांकी गुप्तचरों और गद्दाफी की अपनी गलतियों के द्वारा प्रोत्साहन मिल रहा है, उसके सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण है कि जनता अपने साथ धोखेबाजी नहीं होने देना चाहती, क्योंकि बहुत जल्दी ही विश्व जनमत को पर्याप्त तथ्यों की जानकारी मिल जायेगी जिसके आधार पर वह तय कर सके कि उनसे क्या अपेक्षा की जा सकती है।

मेरी राय में जिसे मैं घटना की शुरुआत के समय से ही कहता रहा कि हमें नाटों के युद्ध सौदागरों की योजना की भर्त्सना करनी चाहिए।

तीसरी दुनिया के कई देशों की तरह लीबिया भी गुट निरपेक्ष आन्दोलन, 77 का समूह और अन्य अन्तरराष्ट्रीय संगठनों का सदस्य है, जिनके माध्यम से इसकी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के साथ अलग-अलग सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं।

संक्षिप्त रूप में क्यूबा में मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों और मार्ती के विचारों से प्रेरित होकर 1956 में क्रान्ति सफल हुई। अमरीका से हम 90 मील की दूरी पर हैं जिसने हमारे देश पर प्लाट अमेंडमेन्ट थोप रखा था और हमारी अर्थव्यवस्था पर अधिकार कर लिया था।

क्रान्ति के तुरन्त बाद, साम्राज्यवाद ने हमारी जनता के खिलाफ आपराधिक आर्थिक नाकेबन्दी, घिनौने युद्ध, क्रान्ति विरोधी गिरोहों और भाड़े के सैनिकों द्वारा 'बे ऑफ पिग' पर हमलों को बढ़ावा दिया। वह एक विमान वाहक पोत से इन कार्रवाइयों की निगरानी करता रहा और उसके नौसैनिक इस बात के लिए हमेशा तैयार रहे कि भाड़े के सैनिकों को निर्धारित लक्ष्य प्राप्त होते ही वे हमारी धरती पर उतर पड़ें।

ठीक डेढ़ साल बाद उन्होंने अपने नाभिकीय शस्त्रागार के बल पर हमें धमकाया। नाभिकीय युद्ध किसी भी क्षण शुरू हो सकता था।

मैक्सिको को छोड़कर सभी लातिन अमरीकी देशों ने आपराधिक नाकेबंदी में हिस्सा लिया जो आज भी जारी है, लेकिन हमारे देश ने आत्मसमर्पण नहीं किया, उन लोगों को यह बात याद दिलाना जरूरी है जिनकी इतिहास की याद्दास्त कमजोर है।

जनवरी 1986 में, इस कल्पना का सहारा लेते हुए कि तथाकथित क्रान्तिकारी आतंकवाद के पीछे लीबिया का हाथ है, रीगन ने उस देश के साथ आर्थिक और वाणिज्यिक सम्बन्ध तोड़ लेने का आदेश दिया।

मार्च में सिदरा की खाड़ी से, जो लीबियाई राष्ट्रीय समुद्री सीमा के अर्न्तगत आता है, विमान वाहक पोतों ने लीबिया पर हमला किया जिसमें सोवियत रूस से प्राप्त मिसाइल लॉन्चर और तटीय रडार प्रणाली से लैस उसकी कई नौसैनिक इकाइयाँ तबाह हो गयीं।

5 अप्रैल को बर्लिन का एक डिस्को और उसमें नाचने गये अमरीकी सैनिक प्लास्टिक विस्फोट के शिकार हो गये। तीन लोग मारे गये जिसमें दो अमरीकी सैनिक थे और कई लोग घायल हुए।

रीगन ने गद्दाफी पर इल्जाम लगाया और अपनी वायु सेना को इसका बदला लेने का आदेश दिया। छठे बड़े के विमान वाहक और ब्रिटेन के सैनिक अड्डों से तीन स्व्वाइनों ने उड़ान भरी तथा त्रिपोली और बैंगाजी के सात

सैनिक लक्ष्यों पर मिसाइलों और बमों से हमला किया।

40 लोग मारे गये जिनमें से 15 नागरिक थे। बमबारी करने वालों के हमलों से सचेत होकर गद्दाफी ने अपने परिवार को एक जगह इकट्ठा किया और बेब अल अजीजिया के सैनिक ठिकाने के पास अपने निवास को खाली करके वे राजधानी के दक्षिण में जा रहे थे। अभी घर खाली करने का काम चल ही रहा था कि एक मिसाइल ने सीधे उनके आवास पर हमला किया। उनकी छोटी बेटी हान्ना मारी गयी और दो अन्य बच्चे जख्मी हो गये। इस घटना की व्यापक रूप से भर्त्सना की गयी। संयुक्त राष्ट्र संघ एसेम्बली ने संयुक्त राष्ट्र चार्टर और अन्तरराष्ट्रीय कानून की इस अवहेलना की निंदा करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया। गुट निरपेक्ष आन्दोलन, अरब लीग और ओएयू ने भी कड़े शब्दों में निन्दा प्रस्ताव पारित किया।

21 दिसम्बर 1988 को लन्दन से न्यूयार्क जा रहा 747 पैन एम बोइंग विमान एक बम विस्फोट होने के चलते बीच हवा में विखंडित हो गया। विमान के अवशेष लौकरबी के ऊपर गिरे और इस त्रसदी में 21 राष्ट्रों के 27 लोग मारे गये।

पहले अमरीका को शक हुआ कि यह ईरान द्वारा की गयी बदले की कार्रवाई है जिसके सरकारी एयरलाइन के एक एयर बस में जा रहे 200 नागरिकों को मार दिया गया था। यान्कियों के मुताबिक जाँच एजेन्सियों ने दो लीबियाई गुप्तचरों को इसमें लिप्त पाया था। लीबिया पर ऐसा ही आरोप फ्रांसीसी एयरलाइन की ब्राजविले से पेरिस जा रहे विमान के दुर्घटना—ग्रस्त होने पर भी लगाया गया था। इसमें लीबिया के दो अधिकारियों को आरोपित किया गया था जिनका प्रत्यर्पण करने से गद्दाफी ने मना कर दिया क्योंकि उन्होंने इस सच्चाई से पूरी तरह इनकार कर दिया।

उनके खिलाफ ऐसे ही मनगढ़ंत और अनर्थकारी आरोप रीगन और जॉर्ज बुश सीनियर ने मिलजुल कर गढ़े।

1975 से लेकर रीगन सरकार के अन्तिम दिनों तक क्यूबा ने अंगोला और अन्य अफ्रीकी देशों में अपने अन्तरराष्ट्रीय कर्त्तव्य के प्रति खुद को समर्पित किया था। हम लीबिया और उसके आसपास विकसित हो रहे

टकराव के प्रति सचेत थे क्योंकि पठनीय सामग्री और चश्मदीदों के विवरण जो उस देश या अरब जगत के साथ करीब से जुड़े लोगों ने लिखे थे, हमारे पास उपलब्ध थे। साथ ही, इसलिए भी कि विभिन्न देशों के तरह-तरह के व्यक्तियों के बारे में हमारे अनुभव थे जिनके साथ हम उन वर्षों के दौरान सम्पर्क में रह चुके थे।

कई जाने-माने अफ्रीकी नेताओं ने, जिनके साथ गद्दाफी के नजदीकी सम्बन्ध थे, लीबिया और ब्रिटेन के बीच तनावपूर्ण सम्बन्धों का हल करने का प्रयास किया।

सुरक्षा परिषद ने लीबिया पर जो प्रतिबन्ध लगाये थे, उसे उठा लिया जाना तय था क्योंकि गद्दाफी ने विमान को मार गिराने के आरोपी दोनों लोगों को कुछ शर्तों के साथ स्कॉटलैण्ड में मुकदमा चलाने के लिए समर्पित करना स्वीकार कर लिया था।

अन्तर-यूरोपीय बैठकों में लीबियाई प्रतिनिधियों को बुलाया जाना शुरू हो गया। जुलाई 1999 में लन्दन ने कुछ अतिरिक्त रियायतें देते हुए लीबिया के साथ पूर्ण कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करना शुरू किया।

उसी साल सितम्बर में यूरोपीय यूनियन के मंत्रियों ने 1992 में वाणिज्य से सम्बन्धित प्रतिबन्ध के जो कदम उठाये गये थे, उन्हें वापस लेना स्वीकार किया था।

2 दिसम्बर को इटली के प्रधानमंत्री मसीमो द अलेमा किसी यूरोपीय सरकार के पहले शीर्ष व्यक्ति थे जिन्होंने लीबिया का दौरा किया।

सोवियत संघ और यूरोपीय समाजवादी खेमे के बिखराव के बाद गद्दाफी ने अमरीका और नाटो की माँगों को मान लेने का फैसला किया।

जब मैंने 2001 में लीबिया का दौरा किया तो गद्दाफी ने हमें उस विश्वासघाती हमले के ध्वंसावशेष दिखाये जिसमें रीगन ने उनकी बेटी का कत्ल किया था और जब उनके पूरे परिवार का खात्मा होने वाला था।

2002 की शुरुआत में अमरीकी विदेश मंत्रालय ने सूचित किया कि उनके और लीबिया के बीच कूटनीतिक बातचीत जारी है।

मई में लीबिया को आतंकवाद की सहायता करने वाली सरकारों की सूची में शामिल कर दिया गया, बावजूद इसके कि "बुराई की धुरी" के बारे में अपने

कुख्यात भाषण में जॉर्ज डब्ल्यू बुश ने इस अफ्रीकी देश का नाम नहीं लिया था।

2003 शुरू होते ही, लीबिया के साथ ब्रिटेन और फ्रांस की मुआवजे को लेकर आर्थिक सहमति बन जाने के चलते संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने लीबिया के खिलाफ 1992 में लगाया गया प्रतिबंध हटा दिया।

2003 के अन्त होते-होते, बुश और टोनी ब्लेयर ने लीबिया के साथ एक समझौते की सूचना दी, जिसने ब्रिटेन और अमरीका को गुप्तचर विशेषज्ञों द्वारा गैर-परम्परागत हथियार कार्यक्रमों के बारे में एकत्रित दस्तावेज सौंपे थे। इनमें 300 किमी से भी अधिक दूरी तक मार करने वाले बेलिस्टिक मिसाइल शामिल थी। इन दोनों देशों के अधिकारियों ने पहले ही विभिन्न ठिकानों का दौरा कर लिया था। बुश ने खुद बताया था कि यह त्रिपोली और वाशिंगटन के बीच कई महीनों की बातचीत का नतीजा था।

गद्दाफी ने निरस्त्रीकरण के अपने वायदे पूरे कर दिये। कुछ ही महीनों में लीबिया ने 800 किमी तक मार करने वाली स्कड-सी की पाँच इकाइयाँ और 300 किमी से अधिक मार करने वाली छोटी दूरी की सैकड़ों, सुस्वात्मक मिसाइलें उनके हवाले कर दी।

2002 के अक्टूबर से त्रिपोली के लिए लम्बी दौड़ शुरू हुई— 2003 में जोस मारिया अजनार, 2004 के फरवरी अगस्त और अक्टूबर में वर्लुस्कोनी, 2004 के मार्च में ब्लेयर, उसी साल अक्टूबर में जर्मनी के स्त्रोडर, 2004 के नवम्बर में जाक शिराक। हर व्यक्ति प्रसन्न था। श्रीमान पैसा एक शक्तिशाली भद्र पुरुष है।

गद्दाफी ने विजयोल्लास के साथ यूरोप का भ्रमण किया। अप्रैल 2004 में यूरोपीय उद्योग के अध्यक्ष रोमानो प्रोदी ने ब्रूसल्स में उनकी अगवानी की। उसी साल अगस्त में लीबियाई नेता ने बुश को अपने देश की यात्रा के लिए आमन्त्रित किया। एकाँन मोबिल, शैवेरॉन टेक्साको और कोनोको फिलिप्स ने संयुक्त उपक्रम के माध्यम से कच्चा तेल निकालने का कारोबार फिर स्थापित करने का फैसला लिया।

मई 2006 में अमरीका ने लीबिया को आतंकवादी देशों की सूची से हटाने और पूर्ण कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की।

2006 और 2007 में फ्रांस और अमरीका ने शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए नाभिकीय सहयोग समझौते पर दस्तखत किये। 2007 में ब्लेयर ने एक बार फिर सिदरा में गद्दाफी से मुलाकात की। बी पी ने एक बयान में बताया कि उसने गैस क्षेत्र का पता लगाने के लिए एक “अत्यन्त महत्त्वपूर्ण” समझौते पर हस्ताक्षर किया।

दिसम्बर 2007 में गद्दाफी ने फ्रांस के दो दौरे किये और कुल 10 अरब यूरो के नागरिक और सैनिक उपकरणों के लिए करार किये। स्पेन का दौरा करके वे राष्ट्रपति जोस लूई रोज़िगज जापतेरो से मिले। महत्त्वपूर्ण नाटो देशों के साथ लाखों डॉलर के करार किये गये।

आखिर ऐसा क्या हुआ कि अमरीका और नाटो देश इतनी हड़बड़ी में अपने दूतावास खाली करने पर आमदा हो गये।

यह बहुत ही अनोखा है।

महत्त्वपूर्ण आतंकवाद विरोधी युद्ध के जनक जार्ज डब्ल्यू बुश ने 20 सितम्बर 2001 को वेस्ट प्वाइन्ट सैनिक छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहा—

“हमारी सुरक्षा के लिए आप जिस सेना का नेतृत्व करेंगे उसे एक ऐसी सेना में रूपान्तरित करने की जरूरत है जो एक क्षण की सूचना पर दुनिया के किसी भी अंधेरे कोने में हमला करने को तैयार रहे। और हमारी सुरक्षा के लिए हर एक अमरीकी का अग्रसोची और अटल होना जरूरी है। अपनी आजादी और जान की हिफाजत के लिए जरूरत पड़ने पर पहले ही कार्रवाई के लिए तैयार रहना जरूरी है।

“हमें 60 या उससे भी अधिक देशों में आतंकी गुटों का पता लगाना है। अपने दोस्तों और सहयोगियों के साथ मिलकर शस्त्रीकरण का विरोध करना है और हर मामले में जरूरत के मुताबिक आतंक को मदद करने वाले शासकों का मुकाबला करना है।”

ओबामा उस भाषण के बारे में क्या कहेंगे?

सुरक्षा परिषद उन लोगों पर कौन से प्रतिबन्ध थोपेगी जिन्होंने इराक में लाखों लोगों का कत्ल किया और अफगानिस्तान में हर रोज औरतों—मर्दों और बच्चों को मौत के घाट उतार रहे हैं, जहाँ हाल के दिनों में गुस्से से आग बबूला लोग मासूम बच्चों के कत्लेआम के खिलाफ भारी संख्या में सड़कों पर उतर रहे हैं?

आज ही 9 मार्च को एक खबर बताती है “अफगानिस्तान में तालिबान और अन्तरराष्ट्रीय सेनाओं के बीच नौ साल से जारी युद्ध के दौरान पिछला साल नागरिकों के लिए सबसे भयावह साल रहा। इस साल वहाँ लगभग 2800 लोग मारे गये जो 2009 की तुलना में 15 प्रतिशत अधिक है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने युद्ध की मानवीय कीमत को रेखांकित करते हुए बुधवार को एक रिपोर्ट में यह जानकारी दी।”

“पिछले कुछ वर्षों में तालिबान विद्रोहियों ने अपनी कार्रवाई तेज की है और अपनी स्थिति मजबूत की है। इन की गुरील्ला कार्रवाइयाँ इनके परम्परागत गढ़ों से आगे, दक्षिण और पूरब तक फैल गयी हैं।”

“अफगानिस्तान में संयुक्त राष्ट्र सहयोग मिशन द्वारा जारी संयुक्त वार्षिक रिपोर्ट में यह बताया गया कि वहाँ 2010 में कुल 2777 नागरिक मारे गये जो वर्ष 2009 की तुलना में 15 प्रतिशत अधिक है।

“राष्ट्रपति ओबामा ने 5 मार्च को 9 बच्चों की मौत के लिए अफगानी जनता को अपना “गहरा शोक सन्देश” दिया। आईएसएफ के कमान्डर इन चीफ, अमरीकी जनरल डेविड पेट्रियस और रक्षा मन्त्री रॉबर्ट गेट्स ने भी इसी तरह का बयान जारी किया।”

“युएनएएमए की रिपोर्ट ने इस बात पर जोर दिया कि 2010 में वहाँ मरने वाले नागरिकों की संख्या उसी वर्ष लड़ाई में मरने वाले अन्तरराष्ट्रीय सेना के जवानों की संख्या से चार गुणा अधिक है।”

“2010 विदेशी सैनिकों के लिए भी युद्ध का सबसे भयानक साल रहा जिसके दौरान वहाँ 711 सैनिक मारे गये। यह इस बात का प्रमाण है कि अमरीका द्वारा वहाँ 30,000 कुमुक भेजे जाने के बावजूद तालिबानी गुरिल्लों ने पिछले वर्ष अपनी कार्रवाई तेज की है।”

दस दिनों में जेनेवा और संयुक्त राष्ट्र संघ में वहाँ मानवाधिकार हनन के बारे में 150 से अधिक भाषण दिये गये जिन्हें टीवी, रेडियो, इन्टरनेट और पत्र-पत्रिकाओं ने लाखों बार दुहराया।

क्यूबा के विदेश मंत्री ब्रूनो रोड्रिगज ने 1 मार्च को जेनेवा में विदेश मंत्रियों की बैठक में अपने भाषण में कहा—

“मानव अन्तःचेतना किसी भी परिस्थिति में और

कहीं भी निर्दोष लोगों की मौत को नामंजूर करती है। हम लीबिया में नागरिकों की मौत को लेकर दुनिया की चिन्ता का पूरी तरह समर्थन करते हैं और चाहते हैं कि बिना विदेशी हस्तक्षेप के वहाँ हो रहे गृह युद्ध का शान्तिपूर्ण और सम्प्रभु समाधान निकाला जाये और उस राष्ट्र की एकता सुनिश्चित की जाये।”

उस भाषण के कुछ एक अन्तिम वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

“यदि अनिवार्य मानवाधिकार जीवन का अधिकार है, तो क्या सुरक्षा परिषद उन देशों की सदस्यता निलम्बित करने को तैयार है जो युद्ध छेड़ते हैं?”

“क्या यह उन देशों की सदस्यता निलम्बित करेगा जो हमलावर देशों को वित्तीय और सैनिक सहायता देते हैं, जिनके बल पर वे बड़े पैमाने पर जघन्य और इरादतन मानवाधिकारों के हनन और आम नागरिकों पर हमले की कार्रवाई में लिप्त रहते हैं, जैसा कि फिलीस्तीन में हो रहा है?”

“क्या यह उन शक्तिशाली देशों के खिलाफ कार्रवाई करेगा जो उच्च तकनोलॉजी, जैसे— बमों और मानव रहित बम वर्षक विमानों का इस्तेमाल करके दूसरे देशों की सीमा के भीतर गैर कानूनी हमलों को अन्जाम देते हैं?”

“उन देशों का क्या होगा जो अपने देश की सीमा में गैरकानूनी गुप्त जेल बनाना स्वीकार करते हैं, गुप्त हवाई उड़ानों से अगवा किये गये लोगों को लाने—ले जाने की सुविधा देते हैं या यन्त्रणा देने की कारगुजारियों में भाग लेते हैं?”

“हम बोलिवारियाई नेता ह्यूगो शावेज और एएलबीए की साहसिक अवस्थिति के साझीदार हैं।”

“हम लीबिया में अन्दरूनी युद्ध के खिलाफ हैं तथा तत्काल शान्ति, जीवन का पूर्ण—सम्मान और सभी नागरिकों के अधिकारों का समर्थन करते हैं, लेकिन बिना उस विदेशी हस्तक्षेप के जो इस टकराव को लम्बे समय तक जारी रखने और नाटो की स्वार्थपूर्ति में सहायक होगा।”

(9 मार्च, 2011, मंथली रिव्यू में प्रकाशित रिफ्लेक्शन्स ऑफ़ फिदेल।)

मेरी वसीयत

कर्नल गद्दाफी

यह मेरी वसीयत है। मैं मोहम्मद बिन अब्दुल्लस्सलाम बी हुमायद बिन अबू मानयर बिन हुमायद बिन नयिल अल फुहशी गद्दाफी, कसम खाकर कहता हूँ कि दुनिया में अल्लाह के अलावा कोई खुदा नहीं, और मोहम्मद ही उस अल्लाह के पैगंबर हैं। उनके नाम पर अमन कायम हो। मैं कसम खाता हूँ कि मैं एक सच्चे मुसलमान की तरह मरूँगा।

अगर मैं मारा गया तो जिन कपड़ों में मेरी मौत हो उन्हीं कपड़ों में, मेरी लाश को बिना नहलाए, सिरत में अपने परिवार और रिश्तेदारों की कब्र के पास, मुस्लिम रस्मों—रिवाज के मुताबिक दफनाया जाना चाहूँगा।

मैं चाहूँगा कि मेरी मौत के बाद मेरे परिवार, खास तौर पर औरतों और बच्चों के साथ अच्छा सलूक किया जाए।

लीबियाई जनता को चाहिए की वे अपनी पहचान, अपनी कामयाबियाँ, अपना इतिहास तथा अपने पुरखों और वीर नायकों की गौरव—गाथा की हिफाजत करें। लीबियाई जनता को अपने आजाद और बेहतरीन लोगों की कुर्बानियों को कभी भूलना नहीं चाहिए।

मैं अपने समर्थकों का आह्वान करता हूँ कि वे प्रतिरोध—संघर्ष चलाते रहें और विदेशी हमलावरों के खिलाफ आज, कल हमेशा—हमेशा के लिए अपनी लड़ाई जारी रखें।

दुनिया की आजाद जनता को हम यह बताना चाहेंगे कि अगर हम चाहते तो अपनी निजी हिफाजत और सुकूनभरी जिंदगी के बदले अपने पवित्र उद्देश्य के साथ समझौता करके उसे बेच सकते थे। हमें इसके लिए कई प्रस्ताव मिले लेकिन हमने अपने कर्तव्य और सम्मानपूर्ण पद के अनुरूप इस लड़ाई के हरावल दस्ते में रहना पसंद किया।

अगर हम तुरन्त जीत हासिल न कर पायें तो भी, आने वाली पीढ़ियों को यह सीख दे जाएँगे कि अपने कौम की हिफाजत करने के बजाय उसे नीलाम कर देना इतिहास की सबसे बड़ी गद्दारी है, जिसे इतिहास हमेशा याद रखेगा, भले ही दूसरे लोग इसकी कोई दूसरी ही कहानी गढ़ते और सुनाते रहें।

(टिप्पणी : इस्लाम में शहीद की लाश को बिना नहलाए ही दफनाया जाता है, उसी तरह जैसे मक्का की सेना के साथ अहद की लड़ाई में शहीद होने वाले मुहम्मद साहब के अनुयाइयों की लाश को दफनाया गया था।)

(मुअम्मर गद्दाफी लीबियाई क्रान्ति के नेता और नीति निर्माता थे। वे अपने देश की स्वतंत्रता और सम्प्रभुता के पवित्र उद्देश्य के लिए बलिदान हुए। 20 अक्टूबर 2011 साम्राज्यवादी सैनिक गठबंधन नाटो की चाकरी करने वाले अपने ही देश की गद्दारों के हाथों उनकी राजनीतिक हत्या कर दी गयी। उनकी यह वसीहत मंथली रिव्यू से लेकर अनूदित है।)

लीबिया : बर्बर अमरीका के हाथों तबाह एक और राष्ट्र

दिनेश

जिस धज से कोई मकतल को गया,
वो सान सलामत रहती है,
ये जान तो आनी जानी है,
इस जाँ की तो कोई बात नहीं।

—फैज अहमद फैज

बर्बर साम्राज्यवादी गठबंधन नाटो द्वारा लीबिया पर थोपे गए युद्ध में गद्दाफी की हार लगभग तय थी। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि गद्दाफी केवल साठ लाख की आबादी वाले इस रेगिस्तानी देश में दुनिया की क्रूरतम और शक्तिशाली सेना के साथ छः महीने तक लोहा लेते रहे। गद्दाफी चाहते तो देश छोड़कर भाग सकते थे या साम्राज्यवादी ताकत के सामने समर्पण कर सकते थे। लेकिन उन्होंने उमर मुख्तार की विरासत को जिन्दा रखते हुए अपनी ही जमीन पर लड़ते हुए मरने का रास्ता चुना।

इस वर्ष अरब जगत को हिला कर रख देने वाली बगावतों के पीछे दुनिया भर में जनसाधारण की त्रासद स्थिति है। इसलिए यह बगावत मिस्र और ट्यूनीशिया से शुरु हुई तो यमन, बहरीन, सीरिया, मस्कट और कुवैत सहित कई देशों में जंगल की आग की तरह फैल गयी। उन देशों की जनता सड़कों पर आ गयी और शासकों को देश छोड़कर जाने के लिए मजबूर कर दिया। बगावत की यह आग फरवरी तक लीबिया में पहुँच गयी और पश्चिमी बेगांजी में विद्रोह फूट पड़ा। दिन-ब-दिन यह उग्र होता चला गया जिसका गद्दाफी ने बर्बर दमन किया। गद्दाफी की इस कार्रवाई को साम्राज्यवादी मीडिया ने खूब बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया और उनकी तानाशाही छवि लोगों के मन मस्तिष्क पर प्रत्यारोपित कर दी। ऊपरी तौर पर अरब जगत का यह विद्रोह केवल तानाशाह गद्दाफी के विरुद्ध दिखाई देता है परन्तु वास्तव में इसकी वजह महँगाई, बेरोजगारी, निजीकरण, उदारीकरण जैसी नीतियों, विश्व भर में अनाज पर सट्टेबाजी और अमरीका द्वारा अनाज का प्रयोग बायोडीजल बनाने में किये जाने के कारण अनाज की कीमतों में उछाल, सार्वजनिक सेवाओं से जनता के वंचित होने तथा खेती और उद्योगों में लगातार रोजगार में कमी आना थीं। जाहिर है कि उपरोक्त

सभी समस्याओं के मूल में साम्राज्यवादी समूह और उसके देशी संघातियों द्वारा बेहिसाब मुनाफा निचोड़ने वाली साम्राज्यवादी नीतियाँ हैं। जनता ने इन्हीं नीतियों के खिलाफ विद्रोह किया, परन्तु बिना किसी योजना व सही नेतृत्व के इस प्रकार के स्वतः स्फूर्त आन्दोलन का भविष्य कुछ नहीं होता। इसको भी अमरीका ने लोकतंत्र की माँग तक सीमित करके अपनी साम्राज्यवादी लूट को पुख्ता करने और लीबिया के तेल भण्डारों पर कब्जा करने के लिए अपने स्वार्थों की दिशा में मोड़ लिया।

आज के दौर में वैश्विक अर्थव्यवस्था के पहिये का धुरा पेट्रोलियम के दम पर नाचता है, हालाँकि इसमें ऊर्जा के अन्य स्रोत जैसे पन बिजली, परमाणु ऊर्जा की खपत के तौर पर उनका हिस्सा होता है। साम्राज्यवादी समूह और उनका सिरमौर अमरीका तेल को साम्राज्यवादी वर्चस्व के लिए हथियार के रूप में प्रयोग करता है। इसमें तेल की उसकी अपनी जरूरत और तेल बाजार पर नियंत्रण दोनों शामिल हैं। यदि किसी देश को आज तेल की आपूर्ति बंद कर दी जाये तो उस देश की अर्थव्यवस्था डूब जायेगी वह गैर बराबरी और अपमानजनक समझौतों के लिए मजबूर हो जायेगा। दूसरी ओर साम्राज्यवादी देशों को अर्थव्यवस्था को सुचारु रूप से चालाने के लिए तेल की निर्बाध आपूर्ति भी आवश्यक है। अपने साम्राज्यवादी वर्चस्व के लिए अमरीका दुनिया में लोकतंत्र स्थापित करने का कुटिल स्वांग रचकर तेल उत्पादक राष्ट्रों के स्रोतों पर कब्जे के लिए युद्ध थोप देता है।

आईस्टीन ने कहा था कि “मैं इस विचार से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता कि मेरी आखिरी पित्र भूमि अमरीका ने अपने लिए एक नये किस्म का उपनिवेशवाद खोज निकाला है, जो पुराने यूरोपीय उपनिवेशवाद की तरह साफ दिखाई नहीं देता है। यह विदेशों में अमरीकी पूँजी के निवेश के जरिये दूसरे देशों पर अपना वर्चस्व कायम करता है जिसके चलते वे देश अमरीका पर पूरी तरह निर्भर हो जाते हैं। जो भी इस नीति का विरोध करता है, उसके साथ अमरीका दुश्मन जैसा बर्ताव करता है।”

साम्राज्यवादी समूह और अमरीका की नजर में किसी देश में साम्राज्यवादी की आर्थिक नीतियों का लागू होना और उनका लूट का जारी रहना ही लोकतंत्र है। यदि कोई राष्ट्र इन नीतियों का विरोध करता है तो वह उस अर्थव्यवस्था को तानाशाही घोषित कर देता है। इराक में जब तक तेल के कुओं पर उसका नियंत्रण रहा तब तक उसे कोई परेशानी नहीं थी लेकिन जब सद्दाम हुसेन अमरीकी दखलंदाजी का विरोध करने लगे तो वे तानाशाह और वैश्विक लोकतंत्र के लिए खतरा बन गये जिसके बहाने युद्ध थोपा कर अमरीकी सैनिकों ने इराक में 6,50,000 लोगों की निर्मम हत्या कर दी। साम्राज्यवादी नीतियों का विरोध हमेशा से ही अमरीका के लिए चिंता का विषय रहा है और जहाँ कहीं भी इस तरह के आन्दोलन होते हैं वहाँ अमरीका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दमन करने पहुँच जाता है।

लीबिया में सैनिक हस्तक्षेप का उद्देश्य भी वहाँ के तेल पर कब्जा जमाना है। दरसल लीबिया के विस्तृत रेगिस्तानी भूभाग पर जमीन के नीचे तेल का अक्षय भण्डार है जिस पर साम्राज्यवादियों की गिद्ध दृष्टि लगी है। अभी लीबिया से 32 प्रतिशत तेल फ्रांस, 14 प्रतिशत जर्मनी और 5 प्रतिशत अमरीका को जाता है। असल में साम्राज्यवादी समूह लीबिया के तेल पर अपना पूर्ण नियंत्रण चाहता है जिससे कि उसे इन संसाधनों के बेहिसाब दोहन की खुली छूट मिल जाये।

गद्दाफी की हत्या के बावजूद साम्राज्यवादी गठबंधन नाटो और गद्दाफी के विरोधियों के पास खुशी मानाने का कोई कारण नहीं है। नाटो द्वारा यह लड़ाई नेशनल ट्रांजिशन काउन्सिल की आड़ में लड़ी गयी। साम्राज्यवादी गठजोड़ की पिट्टू एटीसी गद्दाफी के मुद्दे को लेकर तो एक थी लेकिन बाकी किसी भी मुद्दे पर इस गठबंधन में एकता नहीं है। गद्दाफी के बाद लीबिया में सरकार कायम करने में इनका अपना अन्तर्विरोध आड़े आयेगा और लीबिया में गृहयुद्ध लम्बे समय तक चलेगा। लीबिया की क्षत-विक्षत लाश पर जश्न मनाने वाले टीएनसी तथा साम्राज्यवादी गठबंधन नाटो और उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए तेल के स्रोतों की लूट का रास्ता आसान नहीं।

खीरा चोर और हीरा चोर

पहली घटना—

अमरीका के लुइसियाना शहर में रॉय ब्राउन नामक एक 54 वर्षीय बेघर, बेरोजगार अफ्रीकी अमरीकी ने एक बैंक से 100 डॉलर लूटा। इस जुर्म के लिए उसे 15 साल कैद की सजा मिली।

यह घटना दिसम्बर 2007 की है। ब्राउन एक बैंक के कैशियर के पास गया और बोला कि वह लुटेरा है। कैशियर ने नोटों से भरे तीन थैले उसके सामने रख दिए। जिसमें से उसने केवल 100 डॉलर का केवल एक नोट निकाला और बाकी उसे वापस कर दिया। उसने कहा कि मैं बेघर और भूखा हूँ, मेरे रहने का एकमात्र ठिकाना नशा मुक्ति केंद्र है। वहाँ जमा करने के लिए मुझे पैसे की जरूरत है। अगले दिन उसे पश्चाताप हुआ और उसने पुलिस के आगे समर्पण कर दिया। कैदो जिला कोर्ट में उसने अपना अपराध कबूल कर लिया। जज ने उसे अव्वल दर्जे की लूट के जुर्म में 15 साल कैद की सजा दी।

दूसरी घटना—

अमरीका के विराट मॉर्टगेज बैंको में से एक टॉयलर बीन एंड हवीटेकर के मुख्य प्रबंधक ने 3 अरब डॉलर का घोटाला किया। इस अपराध के लिए उसे 3 साल 4 महीने की सजा हुई।

यह घोटाला अमेरिका के बड़े कोर्पोरेट घोटालों में से एक है। 2009 में इस घोटाले का खुलाशा होने के बाद वह बैंक डूब गया जिसके कारण उसके 2000 कर्मचारियों को नौकरी से हाथ धोना पड़ा, साथ ही इसके चलते कई अन्य बैंक और मॉर्टगेज कंपनियाँ भी डूब गयीं। 2008 की अमरीकी मंदी के पीछे भी इस घोटाले का हाथ था। इतने बड़े अपराध के लिए केवल 3 साल 4 महीने की सजा हुई।

ये दोनों घटनाएँ अमरीकी लोकतंत्र और न्याय व्यवस्था की पोल खोल देती हैं।

अन्ना हजारे का भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन एक सही नजरिये की तलाश

सिद्धार्थ

जब, अप्रैल 2011 में अन्ना हजारे ने दिल्ली के जंतर-मंतर पर भ्रष्टाचार के विरुद्ध जन लोकपाल विधेयक लाने की माँग के लिए आमरण अनशन शुरू किया था तो कुछ लोगों को छोड़कर देश के अधिकांश लोगों को यह पता ही नहीं था कि अन्ना कौन है और उनका आन्दोलन कितनी दूर जाएगा? सरकार भी, अपने तमाम नीम-हकीमों, लाल बुझक्कड़ों, विशेषज्ञों-बुद्धिजीवियों-दिग्विजयों की भारी जमात के बावजूद आन्दोलन का कोई पूर्वानुमान नहीं लगा सकी थी। देश की क्रांतिकारी ताकतें भी इसे महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं थी। और तो और, खुद अन्ना और उनके सहयोगियों को भी अप्रैल में शुरू किये गए इस आन्दोलन के बारे में कोई पूर्वानुमान नहीं था।

अनशन शुरू होने के बाद, बढ़ती जन-भागीदारी ने सरकार विरोधी राजनीतिक-पार्टियों और व्यवस्था बदलने के लिए संघर्षरत क्रांतिकारी और उनके संगठन-सभी को इस आन्दोलन का आकलन करने, नये सिरे से अपनी राय बनाने और स्पष्ट रूप से कोई न कोई 'पक्ष' लेने के लिए मजबूर कर दिया। सरकार ने दम्भपूर्ण रवैया अपनाया और आन्दोलन की उपेक्षा कर, उसे थका देने की रणनीति अख्तियार की। (जैसा कि वह तमाम अन्य आन्दोलनों में करती रहती है।) विपक्ष की राजनितिक पार्टियों ने अपनी 'परम्परानुसार' आन्दोलन के ताप से अपने लिए रोटी सेंकने और आन्दोलन से राजनीतिक फायदा उठाने तथा आन्दोलन में शामिल होकर अपनी छवि चमकाने का शानदार मौका देखा। उमा भारती और अजय चौटाला जब बहती गंगा में हाथ धोने जंतर-मंतर पर पहुँचे तो उन्हें भारी जनक्रोश का सामना करना पड़ा उन्हें वहाँ से उल्टे पाँव भागना पड़ा। इससे सबक लेकर नेताओं और पार्टियों ने आन्दोलन को या मौखिक समर्थन देना ही उचित समझा या तो बिना झण्डा-बैनर के अपने कार्यकर्ताओं को आन्दोलन में घुसाया। लेकिन क्रांतिकारी

संगठनों में उहापोह की स्थिति बनी रही। ज्यादातर क्रांतिकारी संगठनों ने इस आन्दोलन को कॉर्पोरेट (पूँजीपतियों) का आन्दोलन बता इससे किनाराकशी करना ही उचित समझा। जबकि एकाध संगठनों ने इसका खुलकर साथ दिया। अन्ना के भ्रष्टाचार विरोधी इस आन्दोलन के प्रति क्रांतिकारी संगठनों और व्यक्तियों का संतुलित और सही दृष्टिकोण का बराबर अभाव बना रहा।

आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास

मैसेज, ट्विटर, फेसबुक, ब्लॉग और ई-मेल से प्रचार करने के बाद अप्रैल में जब अन्ना आमरण-अनशन पर बैठे तब खुद अन्ना को भी इतने बड़े पैमाने पर जन-समर्थन की उम्मीद नहीं थी। ये लोग तो कुछ उसी तरह का आन्दोलन चलाना चाह रहे थे जिस तरह का आन्दोलन 'सूचना के अधिकार' के लिए किया था। यह तो 'जनता' थी जिसने अपनी 'भागीदारी' से आन्दोलन के चरित्र और गति को प्रभावित किया और एक स्वरूप प्रदान किया। अन्ना के अनशन के पूर्व ही बाबा रामदेव ने 'विदेशी बैंकों में जमा काला धन वापस लाओ' नाम से एक अभियान छेड़ रखा था जिसके तहत देशव्यापी भ्रमण के अलावा दिल्ली में 27 फरवरी और 23 मार्च को दो रैलियाँ भी आयोजित की थी। जिला और शहर स्तर पर भी जुलूस निकलवाये थे। यह वही समय था जब राष्ट्रमण्डल खेल घोटाला, आदर्श हाउसिंग घोटाला और सबसे बढ़ाकर 2जी स्पैक्ट्रम घोटाला अखबारों की सुर्खियाँ और न्यूज चैनलों की 'हेडलाइन' बनी हुई थीं। महँगाई पर नियंत्रण के लिए रिजर्व बैंक के रेपो रेट कई बार बढ़ाने के बावजूद रोजमर्रे के सामान की कीमते सरपट ऊँची भाग रही थी। जनता बेबस और बेसहाय नजर आ रही थी। ऐसी ही परिस्थिति में जब अन्ना हजारे ने जंतर-मंतर पर आमरण अनशन शुरू किया तो थोड़ा ठिठकने के बाद जनता को

लगा कि अन्ना ने बिलकुल सही आवाज उठाई है। टीवी चैनलों की लाइव रिपोर्टिंग और अखबारों की सुर्खियों ने लोगों को अन्ना की आवाज से आवाज मिलाने के लिए उत्प्रेरित किया। जिसके लिए सम्भव था वह जंतर-मंतर गया और जिसके लिए सम्भव नहीं था, उसने अपने ही शहरों में जुलूस निकालकर एकजुटता प्रदर्शित की। सरकार ने पहले तो आन्दोलन को नजरअंदाज किया, फिर इसे बदनाम करने की कोशिश की और अंत में, जनता की बढ़ती भागीदारी देख डर गयी। दो कारणों ने उसके डर को और बढ़ाया। पहला, पाँच राज्यों में आसन्न चुनाव और दूसरा 8 अप्रैल से शुरू हो रहा आईपीएल क्रिकेट मेला। सरकार को झुकना पड़ा। समझौता वार्ता शुरू हुआ। और 5-5 सदस्यों, कुल 10 सदस्यों की एक ड्रापिंग कमेटी बनाने का फार्मूला स्वीकृत हुआ। यह भी तय हुआ कि 30 जून तक यह कमेटी ड्रापट तैयार कर लेगी जिसे संसद के आगामी सत्र में पेश किया जाएगा। इस तरह अन्ना का अनशन चौथे दिन समाप्त हो गया। अब चला चूहे-बिल्ली और शह-मात का खेल। पूरा देश जानता है कि किस तरह सरकार ने अपने कुटिल-कूटनीतिज्ञों को अन्ना और उनके समर्थकों को बदनाम करने के लिए खुला-प्रश्रय दिया। जन लोकपाल की जगह मजबूत लोकपाल का शिगूफा छोड़ा गया। कई और लोकपाल के प्रस्ताव सामने आये। इस तरह सरकार और ड्रापिंग कमेटी में उसके सदस्यों ने ड्रापिंग कमेटी के भीतर ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिससे आजिज आकर अन्ना को सरकार पर धोखाधड़ी का आरोप लगाना पड़ा और 16 अगस्त से एक बार फिर आमरण अनशन करने की घोषणा करनी पड़ी।

इसी बीच बाबा रामदेव का जून के शुरू में ही रामलीला मैदान में किया गया आमरण अनशन और उनकी और उनके सहयोगियों की हुई बेरहमी से पिटाई ने आम लोगों को सरकार के प्रति आक्रोश से भर दिया। पहले बाबा रामदेव की हवाई अड्डे पर चार-चार वरिष्ठ मंत्रियों द्वारा आगवानी करके उन्हें अन्ना से भी बड़ा साबित करने का प्रयास किया गया। उनके साथ गुप्त समझौते तक किये गए और फिर, बाद में रात के अँधेरे में बाबा और उनके सहयोगियों के साथ जो व्यवहार किया गया, पुलिसिया तांडव का जो नंगा नाच हुआ उसे मीडिया के चलते सारे देश ने देखा। इससे सरकार का दो मुहँपन

जग जाहिर हो गया और जनता आन्दोलनकारियों के और करीब आ गयी।

सरकार के उपेक्षात्मक-अपमानजनक रवैये से आहत होकर अन्ना ने अपने पूर्व घोषित कार्यक्रम 16 अगस्त से आमरण अनशन शुरू करने का फैसला किया। दिल्ली पुलिस ने जगह देने से वस्तुतः इन्कार कर दिया। 22 प्रकार की शर्तें थोप दी गयीं, अन्ना टीम को दपतरों का चक्कर कटवाकर, उन्हें अपमानित करते हुए तमाम शर्तों के साथ अंततः अन्ना को अनशन के लिए जे पी पार्क अलाट किया। 16 अगस्त के दिन प्रातः काल जब अन्ना अपने सहयोगियों के साथ अनशन के लिए जे पी पार्क जाने की तैयारी कर रहे थे, अपने एक उच्चाधिकारी के नेतृत्व में पुलिस ने उन्हें साथियों सहित गिरफ्तार कर लिया और उनके अन्य सहयोगियों-समर्थकों तक को यह पता नहीं लगने दिया कि उन्हें कहाँ ले जाया जा रहा है। (रामदेव के साथ भी यही किया गया था) चूँकि यह खबर अन्ना समर्थकों और उनको भी जो अनशन का समर्थन करने के लिए जे पी पार्क जा रहे थे, पता चल गया, इसलिए उनकी प्रतिक्रिया काफी तीव्र थी। याद कीजिये गृहमंत्री पी. चिदम्बरम के उस बयान को जिसने जनता को काफी भड़का दिया था। लोग आक्रोशित हो उठे तथा वहाँ-वहाँ दौड़ पड़े जहाँ-जहाँ अन्ना को गिरफ्तार करके रखने की खबरें (अफवाहें) आती रही थीं। अंत में, जब पता चला कि अन्ना तिहाड़ जेल ले जाये गये हैं, आक्रोशित जनता का हुजूम तिहाड़ जेल पहुँचा और उसको चारों तरफ से घेर लिया। (वैसे तो सरकार की योजना रामदेव की ही तरह अन्ना को भी उनके गाँव भेजने की थी मगर जनता के आक्रोश से सरकार डर गयी) सरकार के हाथ-पाँव फूल गये और समय के साथ जनता का बढ़ता हुजूम, देश भर से मिल रही तीखी प्रतिक्रिया सरकार को भयाक्रांत करने लगी। परिणामतः सरकार को अपना फैसला बदलना पड़ा। न्यायिक हिरासत में रखने (जेल) के बजाय अन्ना को रिहा करने का फैसला किया गया। (इस तरह सरकार का जनता के सामने झुकने का जो सिलसिला शुरू हुआ वह 28 अगस्त तक चला। हालाँकि बीच-बीच में कई बार सरकार और उसके प्रवक्ताओं ने उग्र होने की कोशिशें जरूर की मगर जनता की तीव्र प्रतिक्रिया से घबराकर कछुए की तरह अपना सिर वापस

समेट लिया।) लेकिन अन्ना, अनशन के लिए जगह अलाट करने के लिए शर्तों को खत्म करने और सम्मानजनक जगह की माँग पर अड़ गये। सरकार एक बार फिर झुकी और अनशन के लिए रामलीला मैदान को स्वीकृत किया।

तमाम उतार-चढ़ाव के बाद आखिरकार सरकार को संसद का आपातकालीन सत्र बुलाना पड़ा और संसद के भीतर सर्वसम्मति से आंदोलन के मूल उद्देश्य से सहमित का प्रस्ताव पारित करना पड़ा और आंदोलन के तीन मुख्य माँगों सहित जनलोकपाल की भावनाओं वाला लोकपाल विधेयक संसद में अतिशीघ्र प्रस्तुत करने पर सिद्धान्त रूप से सहमति जतानी पड़ी। इस तरह देश समाज सरकार पक्ष-विपक्ष की राजनीतिक पार्टियों और क्रांतिकारी संगठनों तथा प्रगतिशील व्यक्तियों के सामने चुनौतिपूर्ण स्थिति पैदा करने वाले इस आंदोलन का एक चरण समाप्त हुआ।

आन्दोलन के प्रति राजनीतिक पार्टियों का रुख

काँग्रेस पार्टी केन्द्रीय सरकार के रुख का समर्थन करते हुए अन्ना के भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन को बदनाम करने की पूरी कोशिश कर रही है और इस कोशिश में वह राजनीतिक मर्यादाओं की सारी सीमाओं को पार कर गयी है। वह अपने प्रवक्ताओं, दिग्विजय सिंहों और मनीष तीवारियों की मदद से अन्ना और उनकी टीम को पागल, भ्रष्ट, असम्बेदनशील, तानाशाह, प्रचार का भूखा और संसद को बंधक बनाकर लोकतंत्र को खतरे में डालने वाला, जिद्दी ब्लैकमेल करने वाला साबित करने के लिए एड़ी चोटी का पसीना एक कर रही है। काँग्रेस पार्टी शासन-प्रशासन की मदद से अन्ना और उनकी टीम के बही-खातों की जाँच कर रही है, रामदेव के खाते खंगालने की कोशिश कर रही है ताकि इन आन्दोलनकारियों पर दवाब बनाया जा सके और इन्हें डराया जा सके। इस प्रकार काँग्रेस पार्टी का प्रयास चाँद पर दाग दिखाकर उसे बदसूरत घोषित करने का है।

बाकी राजनीतिक पार्टियाँ हालाँकि काँग्रेस पार्टी की तरह अन्ना हजारों पर सीधा आक्रमण करने से बच रहीं हैं मगर दबे स्वर से मौके बे-मौके अन्ना-टीम को कोसने से चूकती नहीं हैं। फिर भी शिव सेना जैसी कुछ पार्टियाँ

अवश्य हैं जिसने अन्ना-टीम को रामलीला मैदान से मशहूर हुई रामलीला टीम घोषित कर उस पर सीधा हमला बोला है।

काँग्रेस के कपिल सिब्बल से लेकर बसपा की मायावती तक ने अन्ना और उनकी टीम को सीधे चुनाव लड़ने और जीतने की चुनौती दी है। कौन नहीं जानता कि इनकी यह चुनौती दुर्भावना से भरी हुई है और ये लोग जानते हैं कि चुनाव लड़ने के इनके हथकण्डों के आगे अन्ना की लोकप्रियता का क्या मूल्य! देश का हर व्यक्ति जानता है कि कोई भी शरीफ आदमी आज चुनाव नहीं लड़ सकता और अगर लड़ेगा भी तो उसे जीतने की उम्मीद नहीं करनी चाहिए। कड़वी सच्चाई यह है कि आज संसद अपराधियों-पूँजीपतियों की हितैषी बन गयी है और इसका चरित्र जन-संसद के चरित्र से कोसों दूर है। संसद की प्रासंगिकता पर जॉर्ज फर्नाण्डिस, अटल बिहारी वाजपेयी और सोमनाथ चटर्जी ने भी पहले ही सवाल उठाये हैं। एक बात और गौर करने वाली है कि अगर कोई दो-चार ईमानदार व्यक्ति जीत कर संसद में चले भी जायें तो वे अपने आदर्शों को अमली जामा नहीं पहना सकते। करोड़पतियों और अपराधियों से भरी संसद से भला यह उम्मीद कर भी कैसे सकते हैं! शायद इसी वजह से राजनीतिक पार्टियाँ अन्ना-टीम को चुनाव लड़ कर जीतने की चतुराईपूर्ण चुनौती दे रही हैं। अन्ना-टीम को इसका आभास है। इसीलिए वह चुनाव-सुधार को भी अपने आन्दोलन का एजेण्डा बनाना चाहती है।

अन्ना आन्दोलन का उद्देश्य, उसका वर्गीय चरित्र और उसकी सीमाएँ

भ्रष्टाचार पर अंकुश रखने और सार्वजनिक पदों पर आसीन व्यक्तियों और लोक सेवकों को भ्रष्ट होने से रोकने के लिए एक सख्त कानून के रूप में लोकपाल की परिकल्पना नयी नहीं है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू के समय लोकपाल पर विचार किया गया था। तब से आज तक भारतीय संसद में लोकपाल बनाने के लिए कई बार प्रस्ताव पेश किया गया लेकिन वह पास होकर विधेयक का रूप नहीं ले सका। और कई लोगों और संगठनों ने भी समय-समय पर लोकपाल के लिए आन्दोलन किया था लेकिन उन्हें कामयाबी नहीं मिल

पायी। अन्ना से पहले लोकपाल मुद्दे पर गत वर्ष 30 जनवरी को अपने पाँच सहयोगियों सहित गाँधीवादी कार्यकर्ता शम्भूदत्त ने भी आमरण अनशन किया था।

अन्ना आन्दोलन का एक मात्र उद्देश्य जनलोकपाल के जरिये भ्रष्टाचार पर काबू पाना है। भ्रष्टाचार आज एक ऐसी समस्या है जिससे अमीर से लेकर गरीब तक सभी परेशान हैं। अमीर अपनी मजबूत आर्थिक हैसियत और शासन पर नियंत्रणकारी स्थिति के चलते आराम से 'ले देकर' अपने काम निकलवा लेता है जबकि असली शिकार गरीब और मेहनतकश तबका ही होता है। मध्यवर्ग 'लेने और देने' दोनों में शामिल रहता है। इसे 'लेने' के बजाय 'देना' ज्यादा पड़ता है। नौकरी के लिए, नागरिक सुविधाओं के लिए और अपने जायज हकों के लिए। इसके लिए जब अन्ना ने एक मजबूत कानून बनाने की माँग करते हुए आंदोलन शुरू किया तो लोगों को लगा कि यह उनकी जरूरत है।

केंद्र में सतारूढ़ कांग्रेस पार्टी सहित तमाम राजनीतिक पार्टियाँ अन्ना पर हमला बोलते हुए कहती हैं कि सिर्फ एक लोकपाल, एक मजबूत भ्रष्टाचार विरोधी कानून बन जाने मात्र से भ्रष्टाचार दूर नहीं हो सकता तो इन लोगों की नीयत ठीक नहीं लगती। ये भ्रष्टाचार विरोधी अन्ना के आन्दोलन की कमियों को दूर करके उसे उसकी सीमाओं से आगे ले जाना नहीं चाहते बल्कि ये लोग आन्दोलन को कमजोर करके उसे समय से पहले ही मार देना चाहते हैं। इस तरह ये नेता और पार्टियाँ अप्रत्यक्ष रूप से 'भ्रष्टाचार' को अजेय और दीर्घायु बनाना चाहती हैं। इसमें इनकी बदनीयती झलक रही है। ये जानते हैं कि अगर एक कानून बन जाता है तो उसकी चपेट में ये सभी कभी भी आ सकते हैं। ये घबराहट महसूस कर रहे हैं। और आन्दोलन का इस तरह विरोध कर अपनी 'सुरक्षा' की ही कोशिश कर रहे हैं। अन्ना ने कभी भी यह नहीं कहा कि जन लोकपाल बन जाने से भ्रष्टाचार का समूल नाश हो जाएगा। उनका कहना है कि इससे एक हद तक भ्रष्टाचार पर अंकुश अवश्य लगेगा और कई नामी-गिरामी व्यक्ति राजा और येदुरप्पा की तरह सलाखों के पीछे होंगे। क्या अन्ना की इस बात में सच्चाई नहीं है? तो फिर ये व्यक्ति और पार्टियाँ इसका विरोध क्यों कर रही हैं।

इनमें से अधिकांश पार्टियाँ कभी न कभी, कहीं न कहीं शासन-सत्ता में भागीदार रह चुकी हैं। मगर पूरा देश जानता है कि अपनी तिजोरी भरने के लिए सार्वजनिक सम्पत्ति को लूटने के अलावा इन्होंने और कुछ नहीं किया।

'जन लोकपाल बना कर भ्रष्टाचार मिटाने के अन्ना के दावे' के खिलाफ देश के 'क्रांतिकारी' भी खड़े हैं। ये भी अन्ना पर देश की जनता को गुमराह करने के लिए भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन खड़ा करने का आरोप लगा रहे हैं। इनका कहना है कि इस आन्दोलन से भ्रष्टाचार पूर्णतः मिट नहीं सकता (तो क्या अन्ना ने कहा है कि भ्रष्टाचार पूर्णतः मिटेगा?)। ये अन्ना को इसलिए भला-बुरा कह रहे हैं कि इससे 'क्रान्ति' नहीं होगी, 'व्यवस्था' नहीं बदलेगी बल्कि व्यवस्था मजबूत होकर उभरेगी। सही कहा है आप लोगों ने! इस आन्दोलन से 'व्यवस्था' नहीं बदलेगी, 'क्रान्ति' नहीं होगी बल्कि व्यवस्था मजबूत होगी। क्या इस बात के लिए किसी की आलोचना की जा सकती है जिस बात को उसने कहा ही नहीं। अन्ना आन्दोलन का उद्देश्य ही जब क्रान्ति करना नहीं है तो उसे क्रान्ति न करने के लिए दोषी कैसे ठहराया जा सकता है?

हाँ! आन्दोलन ने जितना जोर प्रधानमंत्री, मंत्री और न्यायपालिका को जन लोकपाल के दायरे में लाने के लिए लगाया है उतनी ही चुप्पी दिखाई है, एनजीओ और पूँजीपतियों को जनलोकपाल के दायरे से बाहर रखने के सवाल पर। यही इस आन्दोलन की सीमा है जिससे आन्दोलन की व्यापकता पर सीधा प्रभाव पड़ता है। और यही इस आन्दोलन की मुख्य कमी है जिसे दूर किये बगैर आन्दोलन की धार तीखी नहीं हो सकेगी और आन्दोलन के काल कवलित हो जाने की आशंका हमेशा बनी रहेगी।

जन लोकपाल बिल पास हो जाने के बाद 'व्यवस्था' में, शासन में सिर्फ मामूली सुधार होगा, वह भी आम लोगों के लिए नहीं। अधिक से अधिक मध्यम वर्ग के लोगों के लिए। इससे मध्यमवर्ग के एक हिस्से में 'व्यवस्था' के प्रति नाराजगी कम होगी और व्यवस्था को एक हद तक मजबूती मिलेगी। लेकिन भारतीय व्यवस्था की कमजोरी देखिये (देश के क्रांतिकारियों और उनके संगठनों को यह जरूर ध्यान में रखनी होगी) कि अपने लिए इतने फायदेमंद आन्दोलन को भी यह व्यवस्था बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। न ही वह जन लोकपाल जैसा सख्त भ्रष्टाचार

विरोधी निकाय बनाना चाहती है और न ही ऐसे कानून बनाने के लिए आन्दोलनरत लोगों के साथ सम्मानजनक तरीके से पेश ही आ रही है तिस पर भी कुछ लोग अन्ना आन्दोलन के प्रति सरकार की मिली-भगत का आरोप लगा रहे हैं। शासन-सत्ता और व्यवस्था दोनों ही इस आन्दोलन को जितना ही अधिक बदनाम करने की कोशिश करेंगे, आन्दोलनकारियों का जितना ही अधिक दमन-उत्पीड़न करेंगे उतना ही अधिक वह जनता का विश्वास खोते जायेंगे और जनता को अपना विरोधी बनाते जायेंगे। क्रांतिकारी भी, अगर ऐसे आंदोलनों के विरोध में खड़े होंगे तो जनता का विश्वास नहीं जीत पायेंगे और जनता से उनकी दूरी बढ़ती जायेगी।

क्या यह आन्दोलन अपने उद्देश्य में सफल होगा?

भ्रष्टाचार विरोधी इस आन्दोलन का चौतरफा हो रहे विरोध की वजह से यह सवाल उठ खड़ा हुआ है कि इस आन्दोलन का क्या हश्र होगा? क्या यह अपने घोषित उद्देश्य को प्राप्त कर सकेगा या बीच रास्ते में ही दम तोड़ देगा? आन्दोलन में आये उतार-चढ़ाव ने इस आशंका को बल प्रदान किया है कि आन्दोलन कहीं सत्ता की साजिशों-षडयंत्रों और आन्दोलनकारियों की सीमाओं-महत्वाकांक्षाओं की वजह से रास्ते से ही कहीं भटक न जाय?

सरकार और राजनीतिक पार्टियाँ आन्दोलन को जितना ही अधिक तोड़ने और आन्दोलनकारियों को जितना ही अधिक बदनाम करने, उनका दमन-उत्पीड़न करने की कोशिश कर रही हैं, जनता उतना ही ज्यादा आन्दोलन के मूल उद्देश्य के नजदीक होती जा रही है। और उसी मात्रा में उनका इस शासन-सत्ता से मोहभंग होता जा रहा है।

शासन सत्ता के कई अंगों में-मसलन केन्द्रीय सतर्कता आयुक्त (सीवीसी) और महा लेखा परीक्षक (कैंग) द्वारा शासन सत्ता की खुलेआम आलोचना और व्यवस्था के लिए मौजूदा समय सबसे अधिक विश्वासहीनता का बताना, भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन की वजह से ही सम्भव हुआ है। आन्दोलन चाहे भ्रष्टाचार विरोधी एक मजबूत कानून जन लोकपाल के रूप में कानून बनवा सके या

नहीं, लेकिन व्यवस्था के प्रति आम जनता की भावनाओं को तीव्र करेगा और उन्हें व्यवस्था विरोधी बनाएगा। आज जनता का एक हिस्सा जिस तरह इस आन्दोलन में बढ़-चढ़ हिस्सेदारी किया और अनेक तरीकों से इस आन्दोलन से अपनी एकजुटता प्रदर्शित की, वह उनकी बढ़ती चेतना और उनके बढ़ते व्यवस्था विरोध का परिचायक है। अलग-अलग शहरों में जुलूस निकालना, धरना देना, ज्ञापन देना, सांसदों के घरों को घेरना, आन्दोलन का स्वरूप अंत तक अहिंसक बनाए रखना, आन्दोलन की मजबूती का परिचायक है। यह जनता का ऐसा रिहर्सल है जो भविष्य में उठने वाले व्यवस्था विरोधी आन्दोलन में काम आयेगा और उन्हें 'आम तौर पर देश-व्यापी' बनाने में मदद करेगा।

आन्दोलन के सबक और चुनौतियाँ

आज देश का राजनीतिक परिदृश्य संकटग्रस्त हो गया है। राजनेताओं की साख आज जितनी गिर गयी है वैसा आजादी के इतने वर्षों में आज से पहले कभी नहीं हुआ है। चुनाव लड़ने वाली राजनीतिक पार्टियाँ और उनके सभी प्रमुख नेता जनता का भरोसा तेजी से खो रहे हैं। कुछ राजनीतिक पार्टियों के विपक्षी नेता इस मुगालते में हैं कि रथयात्रा और पदयात्रा करके अपना और अपनी पार्टी का विश्वास बहाल कर लेंगे और जनता उन्हें राज सिंहासन सौंप देगी। जबकि कुछ दूसरे जो सत्तारूढ़ हैं, भूलुण्डित हैं और 'जनता की कमजोर याददाश्त' पर आस लगाए हुए हैं कि समय बीतने के साथ जनता सब भूल जायेगी।

सबसे खराब स्थिति है व्यवस्था बदलने के लिए संघर्ष करने वाले क्रांतिकारी संगठनों की। जनता सड़कों पर है और वे सड़क के किनारे फुटपाथ से भी परे खड़े होकर जनता को आगाह कर रहे हैं और चेतावनी दे रहे हैं कि भ्रष्टाचार मिटाने का आन्दोलन पूँजीपतियों को फायदा पहुँचाएगा, कि पूँजीपति ने एनजीओ को पैसा देकर आन्दोलन शुरू करवाया है, कि इससे गरीबी, बेरोजगारी, महँगाई दूर होने वाली नहीं, कि इससे यह पूँजीवादी व्यवस्था मजबूत हो जायेगी मगर जनता तो कुछ भी सुनने के लिए तैयार नहीं है। ऐसी स्थिति में क्रांतिकारी संगठन इस आन्दोलन को समर्थन देने वालों

को 'जनता' मानने से ही इनकार कर रहे हैं। ये शायद 'अपने लिए कोई नयी जनता चुनने वाले हों'।

नगरपालिका (स्थानीय प्रशासन) से लेकर विधान सभा और संसद (उच्च प्रशासन) तक व्याप्त भ्रष्टाचार और शिक्षा, स्वास्थ्य से लेकर बिजली, पानी, परिवहन, सभी विभागों में होने वाली लूट को लूट न मानना और इससे आम जनता को होने वाली परेशानियों को अपने एजेंडे में न लेना, हमारे देश के क्रांतिकारी आन्दोलन की एक भारी कमी है। इससे निजात पाए बगैर जनता के इस हिस्से का विश्वास जीत पाना असम्भव है।

'हमें अपने को, जन-आन्दोलनों से पीछे रह जाने को इस बात के लिए दोषी ठहराना होगा कि हम अभी तक इन तमाम घृणित अनाचारों का काफी व्यापक, जोरदार और शीघ्र भण्डाफोड़ संगठित नहीं कर सके।' एक मशहूर क्रांतिकारी ने उक्त बातें लिखते हुए आगे लिखते हैं कि 'मजदूरों तक राजनीतिक ज्ञान ले जाने के लिए सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ताओं को आबादी के सभी वर्गों के बीच जाना चाहिए और अपनी सेना की टुकड़ियों को सभी दिशाओं में भेजना चाहिए।'... 'हमें सिद्धान्तकारों के रूप में, प्रचारकों, आन्दोलनकारियों के रूप में और संगठनकर्ताओं के रूप में आबादी के सभी वर्गों के बीच जाना चाहिए।' और यह कि "हमारे जमाने में सिर्फ वही पार्टी क्रांतिकारी शक्तियों का अगुवा दल बन सकती है जो सचमुच देशव्यापी पैमाने पर भण्डाफोड़ों का संगठन करेगी।"

आज देशव्यापी राजनीतिक भण्डाफोड़ों का संगठन करने के लिए जरूरी है कि 'ठोस परिस्थितियों का ठोस विश्लेषण करें' और 'ठोस नतीजे' निकालें ताकि जनता के दुःख-दर्दों, शोषण-उत्पीड़न से खुद को जोड़ सकें और जनता का व्यवस्था-विरोधी संघर्ष में नेतृत्व कर सकें।

1991 के बाद, नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने से देश में जो तबाही मची है उसने एक तरफ तो आम जनता की जिन्दगी को नारकीय बना दिया है वहीं दूसरी ओर कुछ मुट्ठी भर लोगों की जेबों को सिक्कों से भर दिया है। यह लूट एक प्रकार का, 'आदिम-पूँजी संचय' का एक नया दौर है। वैश्वीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के नाम से यह पूरी दुनिया आम जनता पर कहर बरपा कर रही है। नेताओं और नौकरशाहों का

भ्रष्टाचार इस 'आदिम-पूँजी संचय' में उनकी मदद का उन्हें पूँजीपतियों द्वारा दिया गया नजराना भर है। जो अन्ना हजारे के आन्दोलन को पूँजीपतियों द्वारा भ्रष्टाचार खत्म करने के लिए किया गया आन्दोलन बताते हैं उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि दुनिया के सभी मुल्कों में सार्वजनिक सम्पत्ति की लूट में मदद के लिए नेताओं और नौकरशाहों को अकूत सम्पदा में हिस्सेदारी पूँजीपतियों की तरफ से ही प्राप्त होती है। अमरीका, यूरोप के 'बेल आउट पैकेज' को कौन भूल सकता है?

भारत में अन्ना-रामदेव का आन्दोलन दुनियाभर में चल रहे ताजातरीन आन्दोलन का ही एक हिस्सा है जो अलग-अलग देशों में अपनी राष्ट्रीय पहचान के साथ, अलग-अलग रूपों में चल रहा है। यह आन्दोलन मूलतः वैश्वीकरण की नीतियों की तार्किक परिणति हैं। इनकी कमियों को दूर करना, इनकी सीमाओं से आगे ले जाना और इसे व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई में बदल देना, व्यवस्था बदलने के लिए संघर्षरत संगठनों का आज मुख्य काम बनाता है। इन संगठनों को अपनी पहचान मिटाए बगैर, अपने व्यवस्था विरोधी सिद्धांतों पर दृढ़ रहकर ऐसे आन्दोलनों से 'मोर्चा' बनाने के सिद्धांत के हिसाब से इनसे रिश्ता बनाना होगा और इस तरह प्रतिक्रियावादियों को इस तरह के आन्दोलनों से फायदा उठाने से रोकना होगा।

"हमें जनता के हर उस हिस्से में, जो थोड़ा भी चेतनशील है, (और जो थोड़ा भी राजनीतिक रूप से सक्रीय हैं) 'राजनीतिक भण्डाफोड़ का शौक पैदा करना चाहिए। हमें इस बात से निराश नहीं होना चाहिए कि अभी राजनीतिक भण्डाफोड़ करने वाली आवाजें कमजोर, इनी-गिनी और सहमी सी हैं... इसका कारण यह है कि जो लोग भण्डाफोड़ कर सकते हैं और ऐसा करने को तैयार हैं, उनके पास ऐसा कोई मंच नहीं है जहाँ से वे बोल सकें...।"

टीम अन्ना का जन लोकपाल के लिए आन्दोलन एक विश्लेषण

द्विगम्बर

टीम अन्ना के नेतृत्व में भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए एक सशक्त लोकपाल पद का सृजन करने और जन लोकपाल कानून बनाने को लेकर चल रहा आंदोलन 28 अगस्त की सुबह 10 बजे अन्ना हजारे द्वारा 'आमरण अनशन' तोड़ने के साथ समाप्त हो गया। आंदोलन के नेतृत्व ने यह घोषणा की थी कि प्रधानमंत्री और न्यायपालिका को लोकपाल के दायरे में लाने सहित अपनी किसी भी माँग से वे पीछे नहीं हटेंगे और जन लोकपाल बिल संसद में पारित होने तक अन्ना का अनशन जारी रहेगा। इसके लिए सरकार को 1 सितम्बर तक का समय दिया गया था। लेकिन सुलह-समझौते और नाटकीय घटनाक्रम के बाद आखिरकार कम महत्त्व वाली तीन माँगों पर सहमति को आधार बनाकर एक भव्य आयोजन के साथ अनशन समाप्त हो गया।

अपने जन लोकपाल बिल के समर्थन में अन्ना हजारे ने 16 अगस्त से दिल्ली में आमरण अनशन करने की घोषणा की थी। सरकार ने इसकी इजाजत नहीं दी और 16 अगस्त की सुबह अनशन शुरू करने से पहले ही अन्ना हजारे और उनके समर्थकों को गिरफ्तार कर लिया। इस घटना ने आग में घी का काम किया। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का गला घोटने के इस कुकृत्य ने सरकार के प्रति लोगों में व्याप्त आक्रोश को और अधिक तीव्र कर दिया। टीवी चैनलों ने इस पूरे प्रकरण का सीधा प्रसारण किया। छोटी से छोटी घटना को लगातार दिखाने और आन्दोलन का बढ़-चढ़कर प्रचार-प्रसार करने से शहरी मध्यम वर्ग प्रभावित हुआ। लोग उद्वेलित होकर खुद-ब-खुद सड़कों पर उतरने लगे।

इस घटना में जल्दी ही एक नाटकीय मोड़ आया जब कुछ ही घण्टों के भीतर अन्ना टीम और उनके समर्थकों को सरकार ने रिहा कर दिया। लेकिन तिहाड़ जेल से बाहर आने के बजाय अन्ना ने जेल के अंदर ही अनशन शुरू कर दिया। 16 अगस्त की रात और 17 अगस्त को दिनभर दिल्ली पुलिस के अधिकारियों के साथ अन्ना टीम की समझौता वार्ता चलती रही। आखिरकार सरकार ने 21 दिन के लिए रामलीला

मैदान में अनशन और प्रदर्शन की इजाजत भी दे दी। दिल्ली नगर निगम ने दिन-रात एक करके रामलीला मैदान की सफाई और अस्थायी शौचालय की व्यवस्था की और वहाँ सुरक्षा का भी विशेष इंतजाम किया। (याद रहे कि इसी रामलीला मैदान में अपने खर्चे पर भ्रष्टाचार के खिलाफ प्रदर्शन कर रहे स्वामी रामदेव और उनके समर्थकों पर पुलिस ने आधी रात को अचानक हमला किया था।) बाद की हर एक घटना से अधिकांश परिचित हैं क्योंकि अन्ना की गिरफ्तारी के बाद से ही सारे के सारे समाचार चैनल पूरे देश की बाकी खबरों को किनारे लगते हुए अन्ना आन्दोलन की हर छोटी-बड़ी घटना का 24*7 घण्टे सीधा प्रसारण करते रहे। इस आन्दोलन को 'आजादी की दूसरी लड़ाई', 'व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई', और ऐसे ही प्रचंड और पाखंडपूर्ण उद्घोष करने के लिए टीवी चैनलों और अखबारों में होड़ लग गयी।

रामलीला मैदान के मंच पर नामी-गिरामी लोगों, फिल्मी सितारों, खिलाड़ियों, गायकों, कवियों, धर्मगुरुओं और समाज सेवियों का जमावड़ा तथा उत्तेजनापरक, अतिशयोक्तिपूर्ण और लोकतुभावन भाषण का क्रम अविरल जारी था। उधर सरकार और अन्ना टीम के बीच समझौता वार्ता और कई स्तर पर मंत्रणाएँ चलती रहीं। कई मध्यस्थ आये और गए जिनमें धर्मगुरु, पार्टियों के नेता, एनजीओ मठाधीश और यहाँ तक कि आदर्श घोटाले के आरोपी विलास राव देशमुख जैसे लोग प्रमुख भूमिका में रहे। और जैसा कि पहले ही तय था कि आन्दोलन का पटाक्षेप भ्रष्टाचार विरोधी कानून और एक पद सृजन के लिए आपसी समझौते में होगा, अंततः हुआ भी वही। इस बीच आन्दोलन के नेतृत्व की संरचना और उसके समर्थकों की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि, भ्रष्टाचार के प्रति नेतृत्वकारी लोगों का दृष्टिकोण, आन्दोलन का तौर-तरीका और यहाँ तक कि उनके आर्थिक स्रोत, राजनीतिक पार्टियों के साथ उनके सम्बन्ध और प्रतिक्रियावादी ताकतों के साथ संश्रय को लेकर भी बहुत सारे प्रश्न उठे। लेकिन जनता के एक खास तबके की स्वतःस्फूर्त पहलकदमी देखकर कई

संगठन और व्यक्ति इतने अभिभूत और भाव विह्वल हो गए कि उन्होंने उपरोक्त सर्वोलों को जनता से कटे निष्क्रिय बुद्धिजीवियों का प्रलाप कहकर खारिज कर दिया। कॉरपोरेट मीडिया के अहर्निश प्रचार-प्रसार से जो बवंडर उठा, उसने कई विवेकशील, विचारवान और जनपक्षधर बुद्धिजीवियों, संगठनों को भी असमंजस में डाल दिया। अब, जबकि यह तूफान थम गया है और अन्ना आन्दोलन 'आधी जीत' की अपनी चरम परिणति तक पहुँच गया है, इस पूरी परिघटना पर विचार करना जरूरी है ताकि भविष्य के लिए जरूरी सबक और कार्यभार निकाले जा सकें।

अन्ना टीम की मुहिम यदि केवल एक कानून बनवाने और एक लोकपाल पद के सृजन तक ही सीमित होती तो इसे गंभीरता से लेने की जरूरत नहीं थी। पूँजीवादी लोकतंत्र में ऐसे दबाव समूह और पैरोकार (लॉबिस्ट) होते हैं जो किसी खास मामले में सरकार पर दबाव बनाते रहते हैं। उनके उद्देश्य बहुत सीमित होते हैं। लेकिन रामलीला मैदान के मंच से जिस तरह 'व्यवस्था परिवर्तन', 'सम्पूर्ण क्रांति', 'लोकतंत्र की पुनर्बहाली' और 'दूसरी आजादी' का शब्द-जाल फैलाया गया, उसने कई सारे लोगों के मन में फर्जी उम्मीद जगायी और भ्रम फैलाया है। लोग इस व्यवस्था से त्रस्त हैं और अपनी रोज-ब-रोज की समस्याओं से मुक्ति चाहते हैं। अपनी इन्हीं आकांक्षाओं और भावनाओं के साथ लोग अन्ना की ओर आकर्षित हुए और अब अन्ना आन्दोलन को महिमामंडित करके उसे जनांदोलनों के एक आदर्श नमूने के रूप में स्थापित करने का प्रयास चल रहा है। ऐसी स्थिति में यह जरूरी है कि इस पूरे प्रकरण का तथ्यपरक विश्लेषण किया जाये और देखा जाये कि यह समूह अपने बड़े-बड़े दावों को पूरा करने लायक है भी या नहीं। इसके लिए हम मुख्यतः सात मानदण्डों पर अन्ना टीम और उसके लोकपाल आन्दोलन को जाँचने की कोशिश करेंगे।

1- विचारधारा और राजनीति 2- उद्देश्य, कार्यक्रम और माँग 3- सांगठनिक उसूल और कार्य प्रणाली 4- नेतृत्व की संरचना 5- समर्थक और जनाधार 6- मीडिया की भूमिका और 7- आर्थिक स्रोत।

शब्दाडम्बरों से नहीं बल्कि इन्हीं मानदण्डों से हम किसी भी संगठन या आन्दोलन को परख सकते हैं कि वह वास्तव में किन वर्गों या तबकों की नुमाइंदगी करता है।

विचारधारा और राजनीति

अन्ना टीम की कोई सुसंगत, सुनिश्चित और समान विचारधारा नहीं है। इसमें परम्परावादी और आधुनिकतावादी,

धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष, तरह-तरह के विचारों वाले लोग शामिल हैं। एक बात सबसे साझा है कि इनमें से कोई भी बुनियादी बदलाव (रेडिकल चेंज) का समर्थक नहीं है। अधिक से अधिक इन्हें सुधारवादी माना जा सकता है। इसमें परस्पर विरोधी आस्थाओं वाले धार्मिक समूह हैं, सीमित उद्देश्य के लिए काम करने वाले गैर-सरकारी संगठन (एनजीओ) हैं और कुछ महत्त्वाकांक्षी लोग हैं जिनकी कोई सुसंगत सोच नहीं है। मुस्लिम समाज के प्रति विष-वमन करने वाले वरुण गाँधी और सुब्रमण्यम स्वामी जैसे लोगों से इस टीम को कोई गुरेज नहीं है। आरक्षण विरोधी 'यूथ फॉर इक्वेलिटी' से भी इन्हें कोई परहेज नहीं है। खुद अन्ना हजारों गुजरात नरसंहार के आरोपी नरेन्द्र मोदी और गैर-मराठी 'बाहरी लोगों' के विरुद्ध नफरत फैलाने वाले राज ठाकरे के प्रसंशक हैं। वे 'नोट के बदले वोट' के आरोपियों को फाँसी देने की माँग करते हैं, लेकिन यह साजिश किसने और क्यों की, इस पर वह मौन रहते हैं।

अन्ना हजारों ने अपने गाँव रालेगण सिद्धि में जो आदर्श गाँव का मॉडल बनाया है, वह प्रतिगामी विचारों पर आधारित है। वहाँ जातिगत पेशे में लगे लोगों को अपना-अपना काम निष्ठापूर्वक करना जरूरी है। उनका मानना है कि हर आदर्श गाँव में एक लोहार, एक सुनार, एक कुम्हार और एक चमार परिवार का होना जरूरी है, ताकि गाँव आत्मनिर्भर बने। वहाँ पंचायत और कॉर्पोरेटिव का चुनाव नहीं होता। दारु पीने और अन्य सामाजिक बुराइयों करने वालों की सार्वजनिक रूप से पिटाई की जाती है। जहिर है कि इन सब के पीछे अलोकतांत्रिक, वर्णाश्रम आधारित, ब्राह्मणवादी, सामंती सोच है। जन लोकपाल आन्दोलन की व्यावहारिक कार्यवाहियों के दौरान भी विभिन्न रूपों में इसका इजहार हुआ।

नवउदारवादी आर्थिक 'सुधार' हमारे देश का सबसे बुनियादी मसला है। इसने भारतीय समाज में पहले से मौजूद समस्याओं को तीखा किया है और नयी-नयी समस्याओं को जन्म दिया है (विराट और बेलगाम भ्रष्टाचार भी इनमें से एक है)। उदारीकरण-निजीकरण की इन नीतियों के परिणामस्वरूप लाखों मजदूरों-किसानों ने आत्महत्या की है और अधिकांश जनता की जिंदगी नरक से भी बदतर हो गयी है। लेकिन अन्ना टीम का इन नीतियों से कोई विरोध नहीं है।

कोई भी विचार या नीति यदि बहुसंख्य मेहनतकश जनता के हित में नहीं है, उनके जीवन में खुशहाली लाने वाली नहीं है तो वह 'व्यवस्था परिवर्तन' का वाहक नहीं हो सकती। अन्ना टीम मेहनतकश जनता के प्रति पक्षधर और प्रतिबद्ध नहीं है। जिन राजनीतिक पार्टियों ने जनविरोधी,

नवउदारवादी नीतियों को बढ़-चढ़ कर लागू किया, उनके सहयोग और समर्थन से ही वे जन लोकपाल कि मुहिम को आगे बढ़ा रहे हैं। अनशन की समाप्ति और 'आधी जीत' के लिए उन्होंने उन सबका आभार भी व्यक्त किया। विचारों की इस पंचमेल खिचड़ी के भरोसे सरकारी सहयोग से कोई कानून तो बनवाया जा सकता है, लेकिन क्या इसके दम पर 'व्यवस्था परिवर्तन' और 'आजादी की दूसरी लड़ाई' लड़ना सम्भव है?

सांगठनिक उसूल और कार्य-प्रणाली

अन्ना टीम के जनलोकपाल आन्दोलन का संचालन कई ढीले-ढाले संगठनों और व्यक्तियों के तदर्थ गठबंधन द्वारा किया गया जिसमें शुरू से आखिर तक मतभेद और कलह मौजूद रहे हैं। इसके नेतृत्व का करिश्माई और मसीहाई अंदाज ही इसकी सामर्थ्य और सीमा थी, जिसके केंद्र में अन्ना हजार थे। इसमें कर्ता अन्ना और उनकी टीम थी, आन्दोलन में शामिल भीड़ का काम उनकी हौसला अफजाई करना, उनकी ताकत बढ़ाना था ताकि सरकार उनके साथ समझौता करने पर राजी हो जाये। मध्यम वर्ग को हमेशा ही किसी महानायक या मसीहा का इन्तजार रहता है जो अपने चमत्कारी प्रभाव से बड़ा से बड़ा बदलाव लाने में समर्थ हो। अपनी पहल पर अनुशासित और योजनाबद्ध सांगठनिक कार्यवाही से उसे एलर्जी होती है। जन लोकपाल ने इस मध्यम वर्गीय प्रवृत्ति का भरपूर लाभ उठाया।

आज का दौर सचेत रूप से इतिहास निर्माण का दौर है जहाँ समाज की हर गतिविधि संगठित शक्तियाँ संचालित करती हैं। राज्य खुद ही ऊपर से नीचे तक पूरी तरह सुसंगठित और वर्गीय शासन को चलाने वाले हर तरह के अशत्रु-शस्त्र से सुसज्जित है। इसका सामना करने के लिए एक केंद्रीकृत, अनुशासित और मजबूत संगठन का होना अनिवार्य है। यह किसी की व्यक्तिगत इच्छा से स्वतंत्र, एक ऐतिहासिक तथ्य है।

भीड़ के सामने इस हवाई घोषणा का कोई मतलब नहीं कि 'हम लोग' सम्प्रभु हैं और सरकार जनता की नौकर है। 'हम लोग' अपनी संप्रभुता का इजहार और उसकी दावेदारी संगठन और अनुशासन के माध्यम से ही करते हैं। अगर ऐसा न हो तो 'हम लोग' किन्हीं खास लोगों को सत्ता के गलियारे तक पहुँचाने का जरिया हो सकते हैं, चाहे मतदान से या किसी अभियान से। 'जनतंत्र के आदर्शों का आनंदोत्सव' और लोकतंत्र के क्रियान्वयन में जमीन-आसमान का फर्क है। विभिन्न तबकों और वर्गों के जन संगठनों में रोज-बरोज के

व्यावहारिक कामों के दौरान उससे जुड़े लोगों का जनवादीकरण और लोकतंत्र का क्रियान्वयन होता है। ऐसे संगठनों में समूह की इच्छा और बहुमत की राय सर्वोपरि होती है और व्यक्ति समूह के अधीन होता है, चाहे वह कितने भी अलौकिक गुणों और विलक्षण प्रतिभा से संपन्न क्यों न हो। नेता का कर्तव्य आन्दोलन और संगठन के उद्देश्य और कार्यक्रम से अपनी कतारों को परिचित कराना, उनकी चेतना बढ़ाना, उनके माध्यम से जनगण को गोलबंद और संगठित करना तथा आन्दोलन को सही दिशा में संचालित करना होता है। लेकिन जनता ही वास्तविक कर्ता होती है। अन्ना कि मुहिम जिन एनजीओ के हाथों में थी उनमें इस प्रकार का कोई संगठन नहीं है। वहाँ कार्यकारी टीम और वेतनभोगी कर्मचारी होते हैं जो निश्चित अवधि और इलाके के लिए निर्धारित और वित्तपोषित, सुधारात्मक परियोजनाओं का संचालन करते हैं। ऐसे संगठन अपने दानकर्ताओं की मदद से जनता के कल्याण और भलाई के लिए काम करते हैं, उन्हें गोलबंद और संगठित नहीं करते।

इतिहास का निर्माण कोटि-कोटि जनता के सचेत प्रयासों से होता है, किसी मसीहा या महानायक के चमत्कार से नहीं। लेकिन हमारे समाज में लोकतान्त्रिक चेतना के आभाव तथा अतीत से चली आ रही नायक-पूजा और अंधश्रद्धा के गहरे प्रभाव के कारण अक्सर किसी उद्धारक के पीछे भीड़ उमड़ पड़ती है। अन्ना की मुहिम के दौरान भी ऐसा ही हुआ। रामलीला मैदान में उपस्थित जनसमूह की चेतना बढ़ाने के बजाय उनकी भावनाओं को उकसाने और अंधभक्ति को बढ़ावा देने के लिए आपातकाल के दौरान दिये गये 'इंदिरा इज इंडिया, इंडिया इज इंदिरा' की पैरोडी बनाकर 'अन्ना इज इंडिया, इंडिया इज अन्ना' का नारा दिया गया। अन्ना टीम की मुहिम में शामिल नाना प्रकार के सुधारवादियों का ढीला-ढाला मोर्चा जन लोकपाल कानून बनवाँले, वही बहुत है। इतिहास का सबक है कि बुनियादी बदलाव के लिए वर्गों और तबकों के संगठित, सचेतन और धैर्यपूर्ण संघर्ष की जरूरत होती है।

अन्ना टीम का उद्देश्य और उनकी माँग

लोकपाल बिल के लिए आंदोलन चलाने वाली टीम अन्ना का उद्देश्य भ्रष्टाचार के खिलाफ एक मजबूत और स्वतंत्र कानून बनवाना, विदेशों से काले धन की वापसी तथा चुनाव प्रणाली और न्याय व्यवस्था में सुधार लाना है।

अन्ना टीम भ्रष्टाचार को देश की सबसे बड़ी समस्या मानती है। और इस समस्या के समाधान के लिए वह एक

कठोर कानून और शक्तिशाली लोकपाल के गठन को अनिवार्य मानती है। अप्रैल 2011 में अन्ना हजारे के पहले अनशन के बाद सरकार ने अन्ना टीम के 5 प्रतिनिधियों को मिला कर लोकपाल कानून की ड्राफ्टिंग कमेटी बनायी, भ्रष्टाचार के खिलाफ मुहिम चलाने वाले कई दूसरे एनजीओ और रामदेव जैसे लोगों को उससे अलग ही रखा गया। बाद में सरकार ने अन्ना टीम के कई सुझावों को उसमें शामिल नहीं किया। उसने एक बेहद कमजोर लोकपाल का मसौदा तैयार किया जिसमें भ्रष्टाचारी के लिए न्यूनतम 6 माह और अधिकतम 10 वर्ष की सजा तथा भ्रष्टाचार का आरोप गलत साबित होने पर शिकायतकर्ता को दो साल की सजा का प्रावधान है। अन्ना टीम की माँग थी कि प्रधानमंत्री, न्यायपालिका और नौकरशाही को लोकपाल के दायरे में लाया जाये। साथ ही लोकपाल कानून को क्रियान्वित करने के लिए 10 लोगों की ऐसी टीम बनायी जाये जो पुलिस, जाँच एजेंसी और न्यायाधीश तीनों की भूमिका निभाने के लिए अधिकृत हो और सर्वशक्तिमान हो। अन्ना टीम का मानना है कि अगर उनके मसौदे के आधार पर लोकपाल बिल बन गया तो देश में 60 प्रतिशत भ्रष्टाचार कम हो जाएगा।

दरअसल भ्रष्टाचार के प्रति अन्ना टीम का नजरिया सतही और भ्रामक है। उनकी निगाह में देश की सारी समस्याओं के मूल में भ्रष्टाचार है जिसके खत्म होते ही सभी मुसीबतें दूर हों जाएँगी। इस तरह वे लक्षण को रोग बताते हैं और उसे जड़ से मिटाने के बजाय नीमहकीमी इलाज तजबीज करते हैं तथा महँगाई, बेरोजगारी, शोषण और लूट-खसोट से लोगों का ध्यान हटाने का प्रयास करते हैं। दूसरे, वे केवल कानून का उल्लंघन करके काला धन कमाने को ही भ्रष्टाचार मानते हैं। पिछले 20 वर्षों से सरकार कानून में फेर-बदल कर के श्रम और सार्वजनिक सम्पत्ति की लूट को बेलगाम करती जा रही है, 1991 के पहले जो-जो भ्रष्टाचार था उस सब को शिष्टाचार में बदलती जा रही है, उससे उन्हें कोई उज्र नहीं।

जो लोग बेलगाम लूट-खसोट से निजात पाने के लिए अन्ना टीम के समर्थन में बड़ी संख्या में सड़कों पर उतरे, उनकी चाहत जायज है, लेकिन सवाल यह है कि क्या इस सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के बने रहते हुए एक कानून, एक संस्था और एक सर्वसत्ता सम्पन्न लोकपाल पद का सृजन कर देने से भ्रष्टाचार पर रोक लग जायेगी? आजादी के बाद से अब तक भ्रष्टाचार पर रोक लगाने के लिए पाँच दर्जन से ज्यादा कानून बने और कई जाँच समितियों का गठन किया गया जिनमें से एक है केन्द्रीय

सतर्कता आयोग जिसे 1998 और 2004 में कानून बनाकर पहले से ज्यादा अधिकार दे दिये गये। लेकिन कहावत है कि कानून बनते ही तोड़ने के लिए हैं। हर नये कानून के साथ भ्रष्टाचार पहले से कहीं अधिक विकराल रूप धारण करता गया। यही हाल दूसरे कानूनों का भी है।

क्या कठोर कानून के बावजूद दहेज उत्पीड़न आज भी जारी नहीं है? क्या भ्रूण हत्या के विरुद्ध कानून बना दिए जाने से भ्रूण हत्या बंद हो गयी? क्या बाल श्रम कानून बनने से बच्चों से काम लेने पर लगाम लगी? क्या दलित उत्पीड़न के खिलाफ कानून बन जाने से दलितों का उत्पीड़न समाप्त हुआ? सच तो यह है कि जब भी किसी समस्या के प्रति लोगों का आक्रोश और असंतोष बढ़ता है तो सरकार खुद ही उसके लिए कानून बना कर अपने कर्तव्यों की इतिश्री कर लेती है। भ्रष्टाचार के मामले में भी वह यही कर रही है। क्या अन्ना टीम अपनी इस कानूनवादी, सुधारवादी माँग के जरिये सरकार के इसी पुराने, आजमाए हुए पैतरे में सहयोगी भूमिका नहीं निभा रही है? कहावत है 'प्रभुता पाई काहि मद नाहीं।' अंग्रेजी कहावत है कि 'पावर करप्ट्स एण्ड एक्सलूट पावर करप्ट्स एक्सलूटली'। सर्वाधिकार संपन्न लोकपाल भी भ्रष्ट नहीं होगा इसकी क्या गारण्टी है?

मजेदार बात यह है कि अन्ना टीम ने पूँजीपतियों, व्यापारियों, सटोरियों, काला बाजारियों, एनजीओ चलाने वालों, धार्मिक संस्थाओं और मीडिया को अपने लोकपाल की गिरफ्त से बाहर रखा है। ए. राजा आज बिना लोकपाल के भी जेल में हैं, जबकि 1,75,000 करोड़ डकार जाने वाले मोबाइल कम्पनियों के मालिक देशी-विदेशी पूँजीपतियों का लोकपाल कानून भी कुछ नहीं बिगाड़ पायेगा। पिछले दिनों नीरा राडिया कांड ने पूँजीपति और मीडिया के अपवित्र गठबंधन को सामने ला दिया था। लेकिन प्रधानमंत्री से लेकर राज्य के छोटे कर्मचारियों तक को लोकपाल के दायरे में लाने पर बजिद अन्ना टीम ने अपने जन लोकपाल से उन्हें बेलाग रखा।

क्या अन्ना टीम की माँग पूरी हो गयी! अनशन समाप्ति के बाद के विजयोल्लास और मीडिया के अन्धाधुंध प्रचार से तो ऐसा ही जान पड़ता है, लेकिन हकीकत कुछ और है।

रामलीला मैदान के मंच से अन्ना ने घोषणा की थी कि सरकार लोकपाल का अपना मसौदा वापस ले और उसकी जगह जन लोकपाल बिल संसद में पेश करे। कानून बनाने के लिए अन्ना टीम ने सरकार को 30 अगस्त तक का समय दिया था और उद्घोष किया था कि कानून बनने तक अन्ना का अनशन और आंदोलन जारी रहेगा।

लगातार वार्तालापों का दौर चला और अंततः अन्ना

टीम ने प्रधानमंत्री और न्यायपालिका को जन लोकपाल के दायरे में लाने सहित कई माँगों को छोड़ते हुए केवल कम महत्त्व वाले तीन मुद्दों पर संसद में प्रस्ताव पेश करने की शर्त रखी – 1. राज्यों में लोकायुक्त की नियुक्ति, 2. सिटिजन चार्टर के जरिये सरकारी दफ्तरों में हर काम के लिए निश्चित समय का निर्धारण और 3. राज्य के सभी कर्मचारियों को लोकपाल के अधीन लाना। सरकार ने न तो संसद में कोई प्रस्ताव पास किया और न ही कानून बनाने के लिए कोई समय सीमा तय की। केवल संसद की भावना व्यक्त करते हुए कांग्रेस और भाजपा के नेताओं ने एक संयुक्त वक्तव्य दिया। अन्ना टीम ने सम्मानपूर्वक पीछे हटने के लिए उसी वक्तव्य को आधार बना कर आंदोलन वापस ले लिया और इसे 'आधी जीत' बताते हुए अपनी पीठ थपथपा ली।

जन लोकपाल आंदोलन ने एक बार फिर यह दिखा दिया कि वैचारिक उहापोह और सांगठनिक अफरातफरी के बल पर मामूली सुधारवादी और सतही माँगों को पूरा करवाना भी सम्भव नहीं।

आंदोलन के नेतृत्व की संरचना

अन्ना टीम की भ्रष्टाचार मुहिम के साथ ही सिविल सोसाइटी (भद्रलोक समाज) एक बहुचर्चित शब्द हो गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है— भद्र, शिष्ट, सुसभ्य, परिष्कृत, नगरवासी। जाहिर है कि 70 प्रतिशत ग्रामीण आबादी और शहरों की आधी गरीब आबादी इस श्रेणी में नहीं आती। जन लोकपाल आन्दोलन का नेतृत्व और उनके समर्थक इसी 'सिविल सोसायटी' के लोग हैं। सिविल सोसाइटी या भद्रलोक की अवधारणा कोई नयी नहीं है। प्राचीन रोमन साम्राज्य में गुलामों को मनुष्य की श्रेणी में नहीं माना जाता था। गुलामों के मालिक अभिजात वर्ग के अलावा स्वतंत्र नागरिकों का समूह इसी श्रेणी में आता था जो अपनी सामाजिक हैसियत और पक्षधरता में कुलीन वर्ग के करीब था। आधुनिक युग में यह सभ्य, सुसंस्कृत और खुशहाल भद्रलोक पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी व्यवस्था का परम हितैषी है।

विश्व बैंक की परिभाषा के अनुसार "सिविल सोसाइटी पद का सम्बन्ध गैर-सरकारी संगठन और बिना मुनाफे वाले संगठनों के व्यापक विन्यास से है जो अपने सदस्यों तथा दूसरों के हितों एवं मूल्यों को नैतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, धार्मिक या लोकोपकारी विचारों के आधार पर अभिव्यक्त करने वाले के रूप में सार्वजनिक जीवन में अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुके हैं। इस तरह सिविल सोसाइटी संगठन, संगठनों के एक व्यापक विन्यास को दिखाते हैं—

सामुदायिक समूह, गैर-सरकारी संगठन (एनजीओ), श्रमिक संघ, मूल निवासी समूह, दानकर्ता संगठन, धार्मिक संगठन, पेशेवर लोगों के ट्रस्ट।"

विश्व बैंक सिविल सोसाइटी शब्द का प्रयोग एनजीओ के स्थान पर करता है जिन्हें अपनी योजनाओं में शामिल करने के लिए वह 70 के दशक से ही प्रयासरत रहा है और 1990 के बाद उसने इस प्रयास को तेज किया है। उसका मानना है कि "वैश्वीकरण की प्रक्रिया तथा लोकतान्त्रिक शासन, संचार माध्यम और आर्थिक एकीकरण के विस्तृत होने की सहायता से पिछले दशक में विश्व स्तर पर सिविल सोसाइटी के आकार, कार्य क्षेत्र और क्षमता में नाटकीय विस्तार हुआ है। अंतरराष्ट्रीय संगठनों की वार्षिकी के अनुसार अंतरराष्ट्रीय एनजीओ की संख्या 1990 में 6000 से बढ़कर 2006 में 50,000 हो गयी। सिविल सोसाइटी संगठन आज वैश्विक विकास सहायता कार्यक्रमों में महत्त्वपूर्ण खिलाड़ी हो चुके हैं। ओईसीडी का अनुमान है कि 2006 में इन संगठनों ने 15 अरब डॉलर की सहायता उपलब्ध करने में सहयोग किया। विश्व बैंक के मुताबिक इन संगठनों ने दुनिया भर में अपने विभिन्न हिमायती अभियानों (एडवोकेसी कैम्पेन) के दौरान हजारों समर्थकों को गोलबंद किया। 'वैश्विक सिविल सोसाइटी की अनुगूँज' की ताजा अभिव्यक्ति विश्व सामाजिक मंच (डब्ल्यूएसएफ) है जिसका वार्षिक आयोजन 2001 से विभिन्न महाद्वीपों में किया जा रहा है और जिसने वैश्विक विकास के मुद्दों पर विचार विमर्श के लिए अपने हजारों कार्यकर्ताओं को एक साथ ला खड़ा किया। दूसरा उदाहरण 'गरीबी के खिलाफ कार्रवाई का वैश्विक आह्वान' (जीसीएपी) के तहत गरीब देशों की कर्ज माफी और ज्यादा बड़ी सहायता की हिमायत करने के लिए चलाया गया अभियान है। 2008 में दुनिया भर के शहरों में आयोजित कार्यक्रमों में 1.6 करोड़ नागरिकों ने भाग लिया। भ्रष्टाचार के खिलाफ विश्वव्यापी अभियान भी विश्व बैंक की कार्यसूची में शामिल है।

1990 में बर्लिन की दीवार गिराए जाने और रूसी खेमे के विघटन के साथ विश्व शक्ति संतुलन में भारी बदलाव आया। अमेरिका के नेतृत्व में 'वाशिंगटन आम सहमति' के आधार पर पूरी दुनिया में नवउदारवादी, नग्न पूँजीवादी विश्व साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का अभियान शुरू हुआ। पूरी दुनिया में पूँजीवादी शोषण के सम्बन्ध कायम किये गए। पूँजी की निर्मम लूट और मुनाफाखोरी के रास्ते से सारे अवरोध हटा दिए गए। पूँजीवाद के इस नए बर्बर दौर को एक मात्र विकल्प बताने और न्यायसंगत ठहराने के लिए विचारों की आँधी चलाई गयी, मीडिया द्वारा लोगों के मन-मस्तिष्क को पूँजीवाद के

अनुरूप ढालने का चौतरफा और अन्धाधुंध प्रयास शुरू हुआ।

इस अन्धी लूट-खसोट का विनाशकारी प्रभाव होना तय था। इन चौतरफा दुष्परिणामों पर पर्दा डालने के लिए साम्राज्यवादी समूह ने तरह-तरह के उपाय किये। साथ ही, 'सिविल सोसाइटी' और एनजीओ को भरपूर भौतिक मदद देकर खड़ा किया। नवउदारवादी पूँजीवाद अपने अन्तर्निहित कारणों से जो नयी-नयी सामाजिक बीमारियाँ उत्पन्न करता है उनके खिलाफ आन्दोलन चलाकर उनमें कुछ हद तक सुधार लाने का काम इन संगठनों को सौंपा गया। गरीबी, पर्यावरण विनाश, कर्ज संकट, तानाशाही और भुखमरी से लेकर वैश्वीकरण के घातक परिणामों तक, तरह-तरह के मुद्दों पर एनजीओ ने दुनिया भर में हिमायत अभियान (एडवोकेसी कैम्पेन) चलाये, जिनका उपरोक्त उद्धरण में विश्व बैंक ने जिक्र किया है।

इस पूरी परिघटना का सार है— राजनीतिक आन्दोलन की जगह सामाजिक आन्दोलन, वर्गों और तबकों के संगठनों की जगह एनजीओ के सामाजिक अभियान और सुधारवादी-कानूनवादी-वर्गतर संगठन, आम तौर पर हर तरह की राजनीति का विरोध, पूँजीवाद का विकल्प प्रस्तुत करने की जगह उससे पल-प्रतिपल पैदा होने वाली समस्याओं को लेकर मुद्देवार, स्थानीय और तात्कालिक आन्दोलन। जुझारू संघर्ष की जगह जनहित याचिका, मोमबत्ती जुलूस, मानव श्रृंखला, भूख हड़ताल और गाँधीगिरी जैसे नये ढंग के आन्दोलन, लोगों की व्यापक गोलबंदी और दीर्घकालिक निर्णायक लड़ाई की जगह भद्रजनों, मीडिया, एनजीओ कर्मियों द्वारा प्रतीकात्मक आन्दोलन, यानी रोग को मिटाने की जगह लक्षण को दबाना।

साम्राज्यवादी समूह ने रूस और पूर्वी यूरोप में राजकीय पूँजीवाद की जगह नग्न पूँजीवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए गुलाबी, बैंगनी, नारंगी और चमेली क्रांतियों में सहयोग करने के लिए 'नागरिक समाज' और एनजीओ को एक रणनीति के रूप में सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया था। इसके लिए अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं और फण्डिंग एजेंसियों के जरिये उन्हें भरपूर धन मुहैया कराया गया था। अब तो यह नवउदारवाद का आजमाया हुआ राजनीतिक उपकरण बन गया है।

1990 के बाद दुनिया भर में एनजीओ परिघटना और उनकी संख्या में तेजी से विकास हुआ है। साम्राज्यवादी देशों में तो इसे अर्थव्यवस्था के तीसरे क्षेत्र के रूप में स्थापित किया गया है। सरकार द्वारा सामाजिक सेवाओं का निजीकरण करके उनसे हाथ खींचने के बाद, जब निजी पूँजीपतियों ने

शिक्षा-चिकित्सा जैसी सरकारी सेवाओं को मुनाफे का धंधा बनाकर गरीब जनता को उनसे वंचित किया तो अभावग्रस्त लोगों के लिए एनजीओ को मानवतावादी चेहरे के साथ मैदान में उतारा गया। इस परिघटना को आगे बढ़ाने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने नागरिक समाज के लिए एक पैनल का गठन किया। विश्व बैंक ने भी इस दिशा में कई परियोजनाएँ शुरू की और हर देश में एनजीओ और नागरिक समाज का भरपूर सहयोग लिया।

भारत में 1991 में नवउदारवादी नीतियाँ लागू होने के बाद एनजीओ का तेजी से विस्तार हुआ है। मजदूर आन्दोलन की कमजोरी और बिखराव ने एनजीओ के लिए अनुकूल अवसर प्रदान किया। वामपंथ के खिलाफ पूँजीवादी मीडिया के विश्वव्यापी अन्धाधुंध प्रचार से उन्हें वैचारिक आधार मिला जिसने हर तरह के प्रतिगामी मूल्यों का महिमामंडन किया और मुक्त बाजारवाद को एक मात्र विकल्प के रूप में स्थापित किया। आज भारत में 15 लाख नागरिक समाज संगठन या एनजीओ हैं जिनमें 1.9 करोड़ स्वयंसेवकों को रोजगार मिला हुआ है। ये संगठन पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकार और सहयोगी हैं और उसी के दायरे में काम करते हैं। इनका काम पूँजीवाद को दीर्घायु बनाने के लिए उसकी बुराइयों से लड़ना है। भ्रष्टाचार भी पूँजीवाद की ऐसी ही एक अन्तर्निहित बुराई है जिसके खिलाफ टीम अन्ना ने मुहिम छोड़ी है।

पूँजीवादी लोकतंत्र के मौजूदा दौर में जब संसद और विधान सभाओं में नीतिगत मुद्दों पर पक्ष-विपक्ष जैसा कोई बटवारा रह नहीं गया है और नवउदारवादी नीतियों के चलते जनता का आक्रोश सभी हदें पार करता जा रहा है, तब नागरिक समाज संगठनों को सुरक्षा कवच के रूप में सामने लाया जा रहा है। जन भागीदारी, समावेशी विकास, जनता की जागरूकता, सरकार की जवाबदेही, विकास में सहभागिता, प्रशासनिक सुधार जैसे मनभावन नारों का निहितार्थ यही है। पूँजीवादी लोकतंत्र को कारगर बनाने और जनक्रोश को नियंत्रित रखने के लिए नागरिक समाज के आन्दोलन और प्रतिपक्ष की छद्म रचना जरूरी है। नागरिक समाज के कुछ अभिजात लोग किसी मुद्दे पर इकट्ठा होते हैं और किसी लोकतांत्रिक प्रक्रिया के बिना ही वे राजनीतिक शक्ति सम्पन्न, स्वयंभू जन प्रतिनिधि और 'जनता की आवाज' बन जाते हैं। साम्राज्यवादी संस्थाएँ उन्हें पुरस्कृत करके जल पुरुष, थल पुरुष या नभ पुरुष बनाती हैं, अंतरराष्ट्रीय फण्डिंग एजेंसियाँ उनका खर्चा उठाती हैं, मीडिया उनके लिए सहमति गढ़ता है, उन्हें स्थापित करता है और सरकार उन्हें स्वीकार कर लेती है। यह जन आंदोलनों के भावी तूफानों से बचने की तमाम

तैयारियों में से एक है।

विश्व बैंक के एक अधिकारी ने पिछले दिनों अपने एक साक्षात्कार में नागरिक संगठनों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए कहा था कि "मंदी का सामना कर रही वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था और अरब देशों में उथल-पुथल को देखते हुए विभिन्न देशों में ऐसे संगठनों को अपनी ओर आकर्षित करना जरूरी है। विश्व बैंक ने इसके लिए एक मुकम्मिल योजना तैयार की है जिसमें विभिन्न स्तरों पर सम्पर्क, सम्मलेन, शिक्षण-प्रशिक्षण और वित्तपोषण सब शामिल है। भ्रष्टाचार के खिलाफ अभियान भी विश्व बैंक की एक परियोजना है जिसमें हेरिटेज फाउन्डेशन, फोर्ड फाउन्डेशन, ट्रांसपिरेन्सी इंटरनेशनल सहित कई अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ और फंडिंग एजेंसियाँ सहयोगी भूमिका निभा रही हैं। कैसी विडंबना है कि तीसरी दुनिया के शासकों के साथ मिली-भगत करके उन्हें भ्रष्ट बनाने के लिए जिम्मेदार अंतरराष्ट्रीय साम्राज्यवादी संस्थाएँ ही भद्रलोक को साथ लेकर भ्रष्टाचार के खिलाफ मुहिम छेड़ रही हैं। कुछ साल पहले विश्व बैंक से इस्तीफा देने वाले उसके एक उच्च अधिकारी डेविडसन एल. बुधु ने एक किताब लिखी थी— एनफ इज एनफ जिसमें उसने विश्व बैंक द्वारा दुनिया भर में भ्रष्टाचार फैलाने वाले अभियानों का कच्चा चिट्ठा खोला था। उसका कहना था कि हमारे हाथ से इतने अपराध हुए हैं कि उनके खून के धब्बे सात समुन्दर के पानी से भी नहीं धुल पाएँगे।

अन्ना टीम में शामिल भद्रलोक किसी न किसी एनजीओ का संचालन करते हैं। वे इस नवउदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था के समर्थक हैं तथा उसे कारगर और बेहतर बनाने के लिए उसकी बुराइयों को दूर करना चाहते हैं। जनता से पूरी तरह कटा हुआ यह भद्रलोक यदि चाहे भी तो किसी सही जनान्दोलन का नेतृत्व करने, राज्य का दमन झेलने और कष्ट सहने में असमर्थ है। कानून-व्यवस्था के दायरे में रहकर यह प्रतीकात्मक, प्रायोजित आन्दोलन या जनहित याचिका दायर कर सकता है। इससे आगे जाना इस समूह के लिए सम्भव नहीं है।

भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन के अनुयायी कौन और क्यों?

अन्ना टीम की भ्रष्टाचार विरोधी मुहिम में शहरी मध्यम वर्ग ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। इस आन्दोलन का समर्थक और जनाधार यही वर्ग था। समाज का मुखर तबका होने के कारण यह किसी मुद्दे पर राय बनाने में आम तौर पर सबसे प्रभावी भूमिका निभाता है। मीडियाकर्मी जब भी किसी

विचार पर मत संग्रह करते हैं या पैनल डिस्कशन आयोजित करते हैं तो वे 'सिविल सोसाइटी' यानी मध्यम वर्ग की ही राय लेते हैं, जैसे— एनजीओ चलाने वाले, पत्रकार, खिलाड़ी, अभिनेता, विभिन्न पेशों से जुड़े लोग, प्रतिष्ठित संस्थानों के छात्र, बुद्धिजीवी, मानवाधिकार कार्यकर्ता और अन्य लोग। मध्यम वर्ग के अधिकांश लोग सक्रिय राजनीति से दूर रहना ही पसंद करते हैं। 'नो पोलिटिक्स प्लीज', 'विचार और जूते दरवाजे पर उतार कर आये' और 'पोलिटिक्स इज लास्ट रिफ्यूज ऑफ स्काउन्ड्रेल्स' उनके प्रिय नारे हैं। इसीलिए अन्ना के मीडिया प्रेरित आन्दोलन में मध्यम वर्ग की भारी पैमाने पर हिस्सेदारी ने बहुतेरे लोगों को चकित, भ्रमित और भाव विह्वल किया। इसे अभूतपूर्व और ऐतिहासिक महत्त्व की घटना बताया गया जो काफी हद तक सही भी है। इस मुहिम में मध्यम वर्ग की अति सक्रियता को पिछले बीस वर्षों के दौरान उसके आकार, सामाजिक, आर्थिक स्थिति और चारित्रिक बदलाव से अलग करके नहीं समझा जा सकता है।

1991 में नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से ही आर्थिक विमर्श में मध्यम वर्ग को काफी महत्त्व दिया जाने लगा था। विदेशी निवेशकों को रिझाने के लिए सरकार और मीडिया ने मध्यम वर्ग की संख्या को बढ़ा-चढ़ा कर बताना शुरू किया था। सही संख्या का पता लगाने के लिए कई देशी-विदेशी संस्थाओं ने सर्वेक्षण किये और एक ही साथ 5 करोड़ से लेकर 30 करोड़ तक के आँकड़े सामने आये। इन प्रयासों के पीछे क्रय-शक्ति और उपभोग-क्षमता का पता लगाना था ताकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने माल और सेवाओं के उपभोक्ताओं का सही-सही अंदाजा लगा सकें। यह काफी कठिन काम था क्योंकि उस दौरान सीमित आमदनी के चलते मध्यम वर्ग के जीवन स्तर और उपभोग पैटर्न में काफी भिन्नता थी। 25 साल पहले वास्तविक जीवन में और फिल्मों में भी ठेठ मध्यम वर्गीय चरित्र (अमोल पालेकर या संजीव कुमार) का जीवनस्तर आज की तुलना में भला क्या था? कितने मध्यम वर्गीय परिवार वाशिंग मशीन, माइक्रोवेव ओवन, कार और होली डे पैकेज का उपभोग करते थे? लेकिन आज स्थिति भिन्न है। मध्यम वर्ग की संख्या में वृद्धि और उनकी खुशहाली के लिए शासक वर्ग अपनी पीठ थपथपाते हैं और इसे अपनी नीतियों की सफलता का प्रमाण बताते हैं तो यह ठीक ही है। विजय सुपर स्कूटर से लेकर नए मॉडल की गाड़ियों तक, पलस्तर झड़ते किराये के मकान से आलीशान अपार्टमेंट के मालिकाने तक तथा सरकारी स्कूलों-अस्पतालों से सम्पन्न पाँच सितारा स्कूलों-अस्पतालों तक की यात्रा जितनी तेजी से पूरी हुई, उसके बारे में 1990

से पहले किसी ने कल्पना भी नहीं की थी।

बाजार अर्थव्यवस्था को गतिशील बनाने के लिए थोड़ी संख्या वाले पहले से मौजूद मध्यम वर्ग की तादाद और आमदनी बढ़ाना जरूरी था। साथ ही अगर शासकों ने अपनी नीतियों के समर्थक और सहयोगी तथा अपने जनाधार का विस्तार नहीं किया होता तो समाज का मुखर तबका होने के नाते मध्यम वर्ग इन नीतियों के खिलाफ निरन्तर जारी जनांदोलनों को तेज करने में भूमिका निभाता रहता। मध्यम वर्ग के विभिन्न हिस्सों ने '90 के दशक के पूर्वार्ध में नयी आर्थिक नीतियों का प्रबल विरोध किया था, जिनमें सार्वजनिक क्षेत्र और सरकारी विभागों के कर्मचारी, व्यापारी, शिक्षक, छात्र तथा पत्रकारों, बुद्धिजीवियों और पेशेवरों का एक हिस्सा शामिल था। आज मध्यम वर्ग में विरोध का वह स्वर कहीं दूर-दूर तक सुनाई नहीं पड़ता है। उसकी जगह अब वहाँ से 'शाइनिंग इंडिया', 'अतुल्य भारत', 'मेरा भारत महान', 'आई लव माई इंडिया', 'जय हो' की अनुगूँज आ रही है।

पिछले बीस वर्षों के दौरान देश की कुल आय का बटवारा इस तरह पुनर्गठित किया गया कि शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच, वास्तविक उत्पादन और उस पर निर्भर सेवा क्षेत्र के बीच की तथा गाँव और शहर के बीच खाई लगातार चौड़ी होती गयी। पाँचवें और छठे वेतन आयोग ने केंद्र, राज्य और सार्वजनिक क्षेत्र में कार्यरत लोगों के वेतन भत्तों में भारी वृद्धि की तथा न्यूनतम तथा अधिकतम वेतनमान में भारी अन्तर पैदा किया। निजी क्षेत्र के प्रबंधकों और मानसिक श्रम करने वालों के वेतन में तो काफी तेजी से वृद्धि हुई, लेकिन वहाँ प्रत्यक्ष उत्पादन और शारीरिक श्रम करने वालों की न्यूनतम मजदूरी भी तय नहीं है। इन सभी उपायों से ऊँची आय और क्रय-शक्ति वाला माध्यम वर्ग का एक छोटा तबका पैदा हुआ जबकि बड़ी संख्या में लोगों को बाजार से बहिष्कृत कर दिया गया। यह यात्रा उतनी ही विकृतिपूर्ण और असंगत रही है जितनी वास्तविक उत्पादन वाले कृषि और उद्योग की कीमत पर सेवा क्षेत्र का असामान्य और गैर-अनुपातिक विस्तार। निश्चय ही यह सहज स्वाभाविक प्रक्रिया में नहीं बल्कि सरकार के सचेत प्रयास और उदारीकरण-निजीकरण की उन्हीं नीतियों के चलते घटित हुआ है जिनके कारण देश की बहुसंख्य मेहनतकश जनता आज तबाही की चपेट में आकर कराह रही है।

उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के चलते सेवा क्षेत्र- आईटी, कम्प्युनिकेशन, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, रियल इस्टेट, फाइनांस, शेयर बाजार, बीपीओ, केपीओ तथा निजी अस्पतालों और शिक्षण संस्थानों में रोजगार के नए अवसर

पैदा हुए जिससे आबादी के एक छोटे से हिस्से की आय में काफी वृद्धि हुई। देश की अर्थव्यवस्था में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की घुसपैठ से भी शहरों में खास तरह के रोजगार और मध्यम वर्ग की एक नयी जमात तैयार हुई। इस तरह निजीकरण, बाजारवादी अर्थव्यवस्था और नवउदारवादी नीतियों के परिणामस्वरूप मध्यम वर्ग की आमदनी और तादाद में इजाफा हुआ। इसका ऊपरी हिस्सा आम तौर पर इन नीतियों का प्रबल समर्थक है और आर्थिक नवउपनिवेशवादी मौजूदा ढांचे का सामाजिक अवलम्ब है।

भारत में नवउदारवादी नीतियों के प्रस्तोता और प्रवर्तक पूँजीपति वर्ग और उसके राजनीतिक नुमाइंदा थे लेकिन उच्च मध्यम वर्ग भी शुरू से ही इसका प्रबल समर्थक था। इस वर्ग का सपना था कि वैश्वीकरण-उदारीकरण भारत को विकसित देशों की कतार में ला खड़ा करेगा, भारत को महाशक्ति बना देगा, यहाँ की हर चीज विश्वस्तरीय हो जायेगी और भारत स्वर्ग बन जायेगा। भारत को महाशक्ति बनाने में यह वर्ग कैसे अपना योगदान कर सकता है, इसकी झलक स्वदेश और रंग दे बसंती जैसी फिल्मों में दिखाई गयी है। लेकिन उच्च मध्यम वर्ग जब वर्तमान यथार्थ पर निगाह डालता है तो उसे नवउदारवादी सपना साकार होते नहीं दिखता। उन नीतियों का अन्धभक्त होने के कारण वह उनमें कोई कमी नहीं देखता। उसे लगता है कि सारी बुराई भ्रष्ट नेताओं और नौकरशाहों, यानी सरकार में है जो अपना काम ठीक से नहीं करती। 'मुस्लिम तुष्टिकरण', आरक्षण, गरीबों के लिए सस्ता अनाज, रोजगार गारंटी जैसी नीतियों को वह नेताओं की वोट बैंक की राजनीति और नवउदारवादी, बाजारवादी नीतियों के रास्ते का रोड़ा मानकर आलोचना करता है। भ्रष्टाचार को भी वह ऐसी ही बाधा मानता है जो कुछ भ्रष्ट और स्वार्थी नेताओं द्वारा खड़ी की गयी है। उसका मानना है कि भ्रष्टाचार ही सारी समस्याओं की जड़ है जिसे दूर करना कोई मुश्किल काम नहीं है। इसका एक ही सरल उपाय है कि कठोर कानून बानाओ। उधर सरकार की मजबूरी यह है कि उसे वोट लेने के लिए कुछ लोक-लुभावन कार्यक्रम बनाने पड़ते हैं। व्यवस्था को चलाने और चुनाव जीतने के लिए भ्रष्टाचार को बनाए रखना होता है। जबकि भद्रलोक के सामने ऐसी कोई मजबूरी नहीं।

अन्ना टीम के आन्दोलन का आधार यही उच्च मध्यम वर्ग है। ऊपर से देखने पर ऐसा लग सकता है कि सरकार के खिलाफ आवाज उठाकर यह उसी थाली में छेद कर रहा है जिसमें खाता है। लेकिन वास्तव में यह मुहिम शासक वर्गों के विरुद्ध नहीं बल्कि भ्रष्टाचार मिटा कर नवउदारवादी

बाजार अर्थव्यवस्था को दीर्घायु बनाने के लिए है। अन्ना आन्दोलन ने यह साबित कर दिया है कि सरकार और भद्रलोक के बीच का टकराव मित्रवत है। यह आन्दोलन सरकार की नीतियों के खिलाफ नहीं, मूल ढांचे के खिलाफ नहीं। भद्रलोक इस भ्रष्टतंत्र को समाप्त करने की बातें नहीं करता, बल्कि भ्रष्टाचार मुक्त करके उसे और बेहतर बनाने में मदद करना चाहता है। वह इस सड़ते, बदबू फैलाते लोकतंत्र की सफाई करना चाहता है ताकि देशी-विदेशी पूँजीपति कारगर तरीके अपना कर लूटतंत्र जारी रखें और भद्रलोक के स्वर्ग का वैभव बढ़ाते रहें।

अन्ना आंदोलन और मुख्यधारा की मीडिया

अन्ना टीम के जनलोकपाल आन्दोलन में मीडिया की भूमिका को लेकर भी काफी सवाल उठे। इसमें संदेह नहीं कि दिन-रात सीधा प्रसारण के लिए अपने क्रेन और क्रू के साथ अगर टीवी चैनल सक्रिय नहीं होते, तो इस आन्दोलन में स्वतःस्फूर्त तरीके से इतने लोग शामिल नहीं होते। जन आंदोलनों के प्रति मीडिया के परम्परागत रवैये को देखते हुए यह सक्रियता भले ही अचम्भे में डालने वाली लगती हो लेकिन आन्दोलन के चरित्र और मीडिया की प्राथमिकता पर गौर करें तो उसकी भूमिका अस्वाभाविक नहीं लगेगी।

अपने एक अध्ययन में पत्रकार विपुल मुद्गल (सीएसडीएस) ने सर्वाधिक प्रसार वाले अंग्रेजी और हिंदी के तीन-तीन अखबारों के 48 अंकों का विश्लेषण किया। इन अखबारों ने अपने सम्पादकीय पन्ने का केवल 2 प्रतिशत ग्रामीण इलाकों में रहने वाली दो तिहाई जनता की समस्याओं पर खर्च किया। इन अखबारों में छपने वाली 100 से 200 सामग्री में से औसतन तीन सामग्री ग्रामीण मुद्दों पर थी। इनमें भी अधिकांश सामग्री अपराध, हिंसा और दुर्घटनाओं से सम्बंधित थी। समाचारों के चुनाव के मामलों में हिंदी और अंग्रेजी अखबारों के चरित्र में कोई खास फर्क नहीं पाया था, जबकि हिंदी अखबारों के अधिकांश पाठक ग्रामीण क्षेत्र के लोग होते हैं।

इन अखबारों का झुकाव उपभोक्ता केंद्रित होता है और उनकी निगाह ऊपर उठते पढ़े-लिखे शहरी उपभोक्ताओं पर होती है जिनकी दुनिया में गरीबी और पिछड़ेपन के लिए कोई जगह नहीं होती। इस मामले में टीवी चैनलों का रिकार्ड तो और भी खराब है। वहाँ तो सब कुछ नवधनादय उपभोक्ता वर्ग के लोगों के मनोरंजन के लिए है।

मीडिया को लोकतंत्र का चौथा स्तंभ माना जाता है। नवउदारवादी दौर में लोकतंत्र के अन्य स्तंभों की तरह मीडिया भी बुरी तरह भ्रष्टाचार में लिप्त है। नीरा राडिया

प्रकरण ने पूँजीपति, नेता और मीडिया के अपवित्र गठबंधन को उजागर किया। इसके पहले नोट के बदले समाचार लिखने का मामला देश भर में चर्चा का विषय बना था। पहले भी सरकार और पूँजीपतियों से प्राप्त होने वाले विज्ञापन और सुविधाओं से मीडिया का चरित्र प्रभावित होता था। लेकिन मौजूदा दौर में देशी-विदेशी पूँजीपतियों द्वारा भारी पूँजी निवेश ने मीडिया को विराट पूँजी प्रतिष्ठानों में बदल दिया। इसकी प्राथमिकता पूँजीवाद की हिफाजत करना और साथ ही अपनी पूँजी का विस्तार करना रह गया है। 'स्वतंत्र' और 'निष्पक्ष' होने का मुखौटा भी अब नहीं रहा। उसने अपने आप को जनता से पूरी तरह काट लिया है। ख्यातिलब्ध पत्रकार पी. साईनाथ ने इग्नू में एक व्याख्यान देते हुए मीडिया के इस बदले चरित्र को सारगर्भित रूप में प्रस्तुत किया – “आज अखबारों में कोई श्रमिक संवाददाता नहीं है, आवास और प्राथमिक शिक्षा का कोई संवाददाता नहीं है। इस देश की 70 प्रतिशत आबादी से हम साफ कह रहे हैं कि हमें उनसे कोई लेना-देना नहीं है।” उनका कहना था कि “निजी सुलहनामों के खंडहर पर जरखरीद खबरें उठ खड़ी हुई हैं। निजी सुलहनामों ने मीडिया कम्पनियों को अपनी कम्पनियों में शेर्यर दिए थे जो 2008-09 के शेर्यर बाजार के डूबने के साथ ही रहीं में बदल गए। जरखरीद खबरों ने इन भ्रष्ट कम्पनियों और राजनेताओं को विधानसभा और आम चुनावों के दौरान इस लायक बनाया कि वे मीडिया के साथ बेनामी लेन-देन कर सकें।”

मीडिया के चरित्र पर इस संक्षिप्त चर्चा की पृष्ठभूमि में यह समझना कठिन नहीं कि अन्ना के जन लोकपाल आन्दोलन के दौरान मीडिया ने इतनी सक्रियता क्यों दिखाई और क्यों सातों दिन चौबीस घंटे हर छोटी-छोटी बातों का भी ग्राफिक चित्रण करती रही। यह अकारण नहीं कि प्रधानमंत्री को जन लोकपाल बिल के दायरे में लाने के लिए बजिद टीम अन्ना मीडिया को उससे अछूता रखने का हामी है। मीडिया के मालिकों, पत्रकारों, विज्ञापन दाताओं और लक्षित दर्शकों-पाठकों तथा अन्ना आंदोलन के नेताओं-समर्थकों के बीच अद्भुत वैचारिक और वर्गीय एकरूपता है। दलित, पिछड़े, आदिवासी और मुस्लिम संगठनों का यह आरोप बिलकुल सही है कि भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन के नेतृत्व पर स्वर्ण हिंदू मानसिकता के लोग हावी हैं। मीडिया पर भी इसी तबके का वर्चस्व है जो काफी हद तक मीडिया की प्राथमिकता और पक्षधरता तय करता है। अन्ना आन्दोलन के समानांतर उसी समय दिल्ली में दलित, पिछड़ों, अल्पसंख्यकों की एक रैली हुई थी जिसे मीडिया ने तरजीह नहीं दी। इससे पहले आरक्षण विरोधी

आन्दोलन के समर्थन में भी मीडिया ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। दिल्ली में मजदूरों-किसानों और अन्य मेहनतकश तबकों की रैलियों और प्रदर्शनों के प्रति मीडिया का रुख या तो अनदेखी करने का या उसे बदनाम करने का ही रहा है। इसी वर्ष फरवरी में देश की 9 प्रमुख ट्रेड यूनियनों की रैली के प्रति मीडिया ने ऐसा ही रवैया अपनाया। उसने आन्दोलन को अपेक्षित स्थान नहीं दिया और कहीं चर्चा भी की तो इस रूप में कि इसके चलते दिल्ली में यातायात को कितना व्यवधान पहुँचा और दिल्लीवासियों को कितनी परेशानी झेलनी पड़ी।

मीडिया का मुख्य उद्देश्य अब भव्य आयोजनों की दिलचस्प और ब्योरेवार रिपोर्टिंग करके लोगों को रिज्ञाना और अपनी टीआरपी बढ़ाना ही रह गया है। अन्ना आन्दोलन की रिपोर्टिंग के साथ भी ऐसा ही हुआ। मीडिया ने रोचक और चटपटे ब्योरे, उत्सुकता और सनसनी जगाने वाले तथ्यों तथा उत्सव, उमंग और छिछली भावुकता वाले दृश्यों को खूब बढ़-चढ़ कर प्रस्तुत किया। लेकिन भ्रष्टाचार के मुद्दे को गंभीरता से सामने लाने, उसके कारणों का विश्लेषण करने, लोकपाल बिल के अलग-अलग मसौदों की तुलनात्मक रूप से व्याख्या करने, लोकपाल के लाभ-हानि पर विभिन्न पक्षों की राय बताने, कुल मिलाकर दर्शकों-पाठकों को शिक्षित करने की जहमत मोल नहीं ली। इसके बजाय किसने अपने नवजात बच्चे का नाम अन्ना रखा, कौन नंगे पैर चलकर अन्ना के चरण छूने पहुँचा, किसने कितने आकर्षक गोदने-टैटू रचाए, लोगों में कितना उमंग था, जैसी बातों पर ही ध्यान केंद्रित किया, बीच-बीच में उच्च मध्यवर्गीय वस्तुओं और सेवाओं का विज्ञापन भी चलता रहा।

आन्दोलन को तेज करने और उसका टेम्पो ऊँचा रखने और अन्ना को शोहरत दिलाने में मीडिया की भूमिका असंदिग्ध है। अप्रैल में आन्दोलन की घोषणा करने से पहले अन्ना के नाम के साथ गूगल सर्च में अन्ना कोर्निकोवा का सन्दर्भ आता था और अन्ना हजारे के नाम पर केवल चार या पाँच परिणाम दिखते थे, जबकि प्रधानमंत्री द्वारा ड्रापिंग कमिटी में उन्हें शामिल किये जाने के बाद उनके हजारों संदर्भ आने लगे। 28 अगस्त को एनडीटीवी ने घोषणा की कि यह संख्या 2 करोड़ 90 लाख से भी ज्यादा हो गयी है और भारत के वेब जगत में उनकी लोकप्रियता लेडी गागा से तो कम, लेकिन प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति से अधिक है।

अन्ना हजारे और उनकी लोकपाल मुहिम की छवि बनाने के अलावा मीडिया ने 13 दिनों के इस आन्दोलन के दौरान यह प्रयोग भी सफलतापूर्वक आजमाया कि शासक वर्गों द्वारा किस हद तक मीडिया का इस्तेमाल किया जा सकता है।

नॉम चोम्स्की ने तो मीडिया द्वारा सहमति गढ़े जाने का ही विश्लेषण किया था। आज मीडिया उससे आगे बढ़कर 'असहमति गढ़ने' में भी सफल रहा है। यानी वह मन चाहे मुद्दे गढ़ सकता है और उन्हें लोगों के मस्तिष्क में रोप कर उन्हें उद्वेलित कर सकता है तथा उस उद्वेलित समूह को मनचाहे तरीके से नियंत्रित और संचालित कर सकता है। इस घटना चक्र के दौरान इसे आजमाया जा चुका है। निश्चय ही यह अन्य सभी बातों से कहीं अधिक गम्भीर और विचारणीय मामला है।

भद्रलोक समाज और एनजीओ के आर्थिक स्रोत

अन्ना के जन लोकपाल का नेतृत्व करने वाले सिविल सोसायटी के लोग किसी न किसी एनजीओ से जुड़े हुए हैं। आम तौर पर गैर-सरकारी संगठनों का काम गरीबों की सहायता, जिन जिम्मेदारियों से सरकार ने हाथ खींच लिया है उन कल्याणकारी कार्यक्रमों का संचालन और सरकारी योजनाओं को लागू करवाने में मदद करना होता है। लेकिन आज राजनीतिक गतिविधियों में भी वे बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेने लगे हैं। विश्व सामाजिक मंच के माध्यम से वैश्वीकरण और विश्व व्यापार संगठन का विरोध इसका एक प्रमुख उदाहरण है। अन्ना का आंदोलन भी इसी श्रेणी में आता है।

राजनीतिक और आंदोलनात्मक कार्यवाहियों में लगे किसी भी संगठन के लिए आर्थिक स्रोत का सर्वोत्तम एक नीतिगत सर्वोत्तम है। हमारे समाज में अलग-अलग वर्गों की पार्टियाँ और संगठन हैं। जो संगठन जिनके लिए काम करते हैं, उनसे आर्थिक सहयोग लेते हैं। किसी संगठन के मददगार उसे आर्थिक सहयोग तभी देते हैं जब उसके उद्देश्य और कार्यक्रम उसके हित में हों। यदि ऐसा न हो तो वे उल्टे उसका हर तरह से विरोध करेंगे। संगठन भी अपने आर्थिक सहयोगियों के प्रति जवाबदेह होते हैं। कहावत है जिसका खायेंगे, उसका गायेंगे। चुनाव लड़ने वाली पार्टियाँ पूँजीपतियों से चन्दा लेती हैं और उनके लिए काम करती हैं। यह एक खुली सच्चाई है। इसी तरह ट्रेड यूनियन अपने सदस्यों और समर्थकों से चन्दा लेते हैं। सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक संगठन भी अपने उद्देश्यों से सहमति रखने वाले समर्थकों के आर्थिक सहयोग से संचालित होते हैं। संगठनों के सहयोगी उसकी गतिविधियों पर नजर रखते हैं और यदि संतुष्ट न हों तो वे संगठन को सहयोग देना बंद कर देते हैं। यही बात एनजीओ पर भी लागू होती है। पैसा देने वाली संस्थाओं के स्वार्थ और गैर-सरकारी संगठनों के उद्देश्य और कार्यक्रम में मेल होना जरूरी है। विश्व बैंक, फोर्ड फाउंडेशन (जिसके

अमरीकी गुप्तचर संस्था सीआईए से सम्बन्ध जगजाहिर हैं) या ऑक्सफेम जैसी संस्थाएँ जिन संगठनों को पैसा देती हैं उन्हें अपनी ओर से कार्यक्रम भी देती हैं, जैसे— विश्व बैंक द्वारा दुनिया भर में भ्रष्टाचार विरोधी अभियान की योजना। यही नहीं, वे उन संगठनों की पारदर्शिता और जवाबदेही का भी लेखा—जोखा लेती हैं।

वर्ग विभाजित समाज में वर्गेतर बातें करना, सबके हित की बात करना केवल लोगों को बेवकूफ बनाने का जरिया है। हर वर्ग अपने हितों को सर्वोपरि रखता है। यहाँ तक कि तटस्थता और सर्वजन हिताय की आड़ में राज्य भी कुछ वर्गों की कीमत पर किन्हीं दूसरे वर्गों के स्वार्थों की पूर्ति करता है और इस पर पर्दा डालने के लिए उसके कर्तार्थता झूठ का अम्बार खड़ा करते रहते हैं।

अन्ना हजारे, अरविन्द केजरीवाल और अरुणा रॉय आदि ने सूचना के अधिकार की लड़ाई लड़ी। सिविल सोसायटी के शीर्षस्थ लोगों ने 'अहिंसक' प्रयासों से कानून बनवाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली। लेकिन वर्ग समाज में शक्तिशाली, सम्पत्तिवान लोग अपना नुकसान होने पर हिंसा का सहारा लेना बंद नहीं करेंगे। अब तक सूचना अधिकार से जुड़े दो दर्जन एनजीओ कार्यकर्ताओं की हत्या हो चुकी है। 16 अगस्त को अन्ना मुहिम के पहले ही दिन भोपाल में सूचना अधिकार और भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन से जुड़ी एक महिला कार्यकर्ता सेहला मसूद की दिन दहाड़े हत्या हुई। अन्ना टीम के अहिंसक आंदोलन के शोर—सराबे में जघन्य हिंसा की यह घटना गुम हो गयी। सच तो यह है कि इस कानून से सबसे अधिक लाभ देशी—विदेशी पूँजीपतियों को हुआ है जो घर बैठे इन्टरनेट के जरिये सही समय पर वे सभी सरकारी सूचनायें प्राप्त कर लेते हैं, जिनके लिए पहले उन्हें महीनों चक्कर काटना पड़ता था। लेकिन ऐसी धारणा फैलायी जाती है, जैसे कि सूचना अधिकार कानून आम जनता की भलाई के लिए है, ताकि वर्ग—भेद पर पर्दा पड़ा रहे। क्या लोकपाल कानून इस वर्ग—भेद से ऊपर काम कर पायेगा? आर्थिक—सामाजिक विषमता के रहते क्या यह सम्भव है?

एनजीओ परिघटना का उद्भव सहज स्वाभाविक रूप से या खुद ब खुद नहीं हुआ है। इसके तार साम्राज्यवाद से जुड़े हैं। साम्राज्यवादी संस्थाएँ सचेत रूप से इन्हें बढ़ावा दे रही हैं। विश्व बैंक की विकास रिपोर्ट 2000—2001 में बताया गया है कि 1999 में विश्व बैंक द्वारा स्वीकृत योजनाओं में से 70 प्रतिशत एनजीओ और सिविल सोसायटी के प्रतिनिधियों की भागीदारी से पूरी हुई। इनमें से केवल एक प्रोजेक्ट 4500 करोड़ रुपये का था जो नौ देशों में एनजीओ और सिविल

सोसायटी के मार्फत लागू करवाया गया। यह कोई खैरात नहीं है, क्योंकि इस नवउदारवादी दौर में साम्राज्यवादी संस्थाएँ और विदेशी फण्डिंग एजेन्सियाँ जितना धन खर्च कर रही हैं, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ उससे कई गुना अधिक लूट रही हैं।

निजीकरण के चलते सरकार ने जिन सामाजिक सेवाओं की जिम्मेदारी त्याग दी, उन्हें पूरा करने के लिए एनजीओ अब निजी ठेकेदारों की भूमिका में उतर आये हैं। इसके चलते सरकार अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाती है और जनता का सारा ध्यान एनजीओ पर टिक जाता है, वह भी अपने अधिकार के रूप में नहीं, बल्कि दानी की कृपा—दृष्टि पाने के लिए। जो जनता का अधिकार है वह उसे दान में आधा—अधूरा दिया जाता है।

एनजीओ के जरिये 2000—2001 में 970 करोड़ रुपये का विदेशी फण्ड सार्वजनिक सेवाओं की मद में खर्च किया गया जो सरकार की जिम्मेदारी है साथ ही निजी पूँजीपति अब इन सेवाओं का व्यापार करके भरपूर मुनाफा कमा रहे हैं। विश्व बैंक और मुद्रा कोष के इशारे पर ही सरकार ने सार्वजनिक सेवाओं की मद में बजट कटौती की थी, जिसके कारण गरीबी, भुखमरी और महामारी तेजी से बढ़ी। 1985—90 में राज्य और केंद्र सरकार द्वारा ग्रामीण विकास पर सकल धरेलू उत्पाद का 14.5 प्रतिशत खर्च किया गया था जो 2000—2001 में घटकर 5.9 प्रतिशत रह गया। यदि सरकार पहले के बराबर खर्च करती तो यह राशि वर्तमान बजट से 2,30,000 करोड़ रुपये अधिक होती, जबकि एनजीओ के मार्फत इसका हजारवाँ हिस्सा खर्च करके सरकार निश्चिन्त है। समझना कठिन नहीं कि एनजीओ वास्तव में किसकी सेवा करते हैं।

एनजीओ का कार्यक्षेत्र अब केवल लोक कल्याण कार्यक्रम तक ही सीमित नहीं है। वे स्थानीय और राष्ट्रीय राजनीति में भी एक खास तरह का हस्तक्षेप करते हैं जिसका मकसद जाहिरा तौर पर अपने दानदाताओं के स्वार्थों की पूर्ति करना होता है। इसके लिए वे स्थानीय लोगों के बीच से अपने कर्मचारियों की भर्ती करते हैं। हालाँकि उन्हें अपेक्षतया बहुत कम वेतन दिया जाता है लेकिन बेरोजगारी की हालत को देखते हुए यह भी उनके लिए बड़ी चीज होती है। उनके एहसान से दबे ऐसे ही लोग स्थानीय स्तर पर उनका राजनीतिक प्रभाव जमाने में मदद करते हैं और जलसे—जुलूसों में भीड़ जुटाते हैं।

जिन मुद्दों पर रेडिकल बदलाव के लिए जुझारू आन्दोलन होने की सम्भावना होती है, व्यवस्थापोषक एनजीओ

उन पर सुधारवादी, समझौतावादी और नरमपंथी मुहिम छेड़ देते हैं। यथास्थितिवादी राजनीतिक पार्टियाँ और मीडिया उनके इस काम में भरपूर मदद करते हैं। विश्व बैंक ने एनजीओ को बढ़ावा देने के पीछे अपना राजनीतिक उद्देश्य स्पष्ट करते हुए विकास रिपोर्ट 2000-2001 में कहा था कि "औपचारिक या अनौपचारिक तरीकों से सभी राजनीतिक विरोधियों को एक ही मंच पर लाकर तथा उनकी ऊर्जा को राजनीतिक प्रक्रियाओं की ओर मोड़कर सामाजिक तनाव और बटवाराओं को काफी शान्त किया जा सकता है, बजाय इसके कि उस आक्रोश का शमन करने के लिए टकराव को ही एकमात्र रास्ता मान लिया जाय।" यही कारण है कि जन आंदोलनों के इलाकों में ही एनजीओ का फैलाव ज्यादा है।

पारम्परिक जनसंगठन और जनआंदोलन अपने खुद के आर्थिक स्रोतों के ऊपर निर्भर होते हैं और उनके नेता और कार्यकर्ता आम जनता के बीच से आने वाले जनसामान्य होते हैं, जो जनता के प्रति सीधे जवाबदेह होते हैं। जनता के साथ उनका सम्बन्ध पानी और मछली की तरह होता है। ऐसे कार्यकर्ताओं की जगह एनजीओ के जिन विशेषज्ञों और प्रशिक्षित (सोशल वर्क और मैनेजमेंट की डिग्री लिए) स्वयंसेवकों को उतारा गया है वे अपने अधिकारियों और दानदाताओं के द्वारा ऊपर से नियंत्रित होते हैं। उनके लिए जनता की सहमति या असहमति कोई मायने नहीं रखती। वे मुलाजिम की तरह काम करते हैं और उनका किसी भी समय तबादला हो सकता है। उनके आर्थिक स्रोत भी जनता से नहीं बल्कि बाहर से आते हैं और वे अपने दान दाताओं के प्रति ही जवाबदेह होते हैं। जनता के साथ उनका सम्बन्ध पानी और मछली की तरह नहीं, बल्कि कल्याण करने के लिए आये हुए महापुरुष जैसा होता है।

उनकी परनिर्भरता का आलम यह है कि जिस दिन सरकारी-गैर-सरकारी, देशी-विदेशी फण्डिंग बंद हो जाए उसी दिन सारे एनजीओ ध्वस्त हो जायेंगे।

मजदूर आंदोलन में ठहराव, बिखराव और भटकावों के कारण जनता के जुझारू जनसंगठनों की परम्परा और निरंतरता बाधित हुई है। इससे एनजीओ के लिए खुला मैदान मिल गया। अब कई एनजीओ आदिवासियों, दलितों, महिलाओं और खेत मजदूरों का संगठन, मानवाधिकार संगठन और सांस्कृतिक संगठन चलाते हैं, सबसे पहले आगे बढ़कर वे ही किसी राजनीतिक सामाजिक मुद्दे को भी उठाते हैं। देश की राजनीतिक पार्टियाँ भी इसी संस्कृति में ढल चुकी है। उनका नेतृत्व जनता से पूरी तरह कटा हुआ है और वे जनता के ऊपर सवारी गाँठने वाले लाटसाहब में बदल गए हैं। पक्ष-विपक्ष

की राजनीतिक पार्टियों में जनता का कोई प्रतिनिधित्व या हिस्सेदारी नहीं है। इसीलिए उनके नेतागण एनजीओ के साथ साँठ-गाँठ करते हैं और उन्हें बढ़ावा देते हैं। इस विकट स्थिति से बाहर निकलने का एक ही रास्ता है, मेहनतकश वर्गों और तबकों की चेतना बढ़ाना और सही उर्सूलों पर आधारित उनके अपने संगठन बनाना, जिनकी गहरी जड़ें अपने लोगों के बीच हों और उन्हीं से वे जीवनी शक्ति ग्रहण

दस्तूर

दीप जिसका महल्लात ही में जले
चंद लोगों की खुशियों को लेकर चले
वो जो साए में हर मसलहत के पले

ऐसे दस्तूर को सुब्हे बेनूर को
मैं नहीं मानता, मैं नहीं मानता

मैं भी खायफ नहीं तख्त-ए-दार से
मैं भी मंसूर हूँ कह दो अगियार से
क्यूँ डराते हो जिन्दों की दीवार से

जुल्म की बात को, जेहल की रात को
मैं नहीं मानता, मैं नहीं मानता

फूल शाखों पे खिलने लगे, तुम कहो
जाम रिंदों को मिलने लगे, तुम कहो
चाक सीनों के सिलने लगे, तुम कहो

इस खुले झूठ को जेहन की लूट को
मैं नहीं मानता, मैं नहीं मानता

तूमने लूटा है सदियों हमारा सुकूँ
अब न हम पर चलेगा तुम्हारा फुसूँ
चारागर मैं तुम्हें किस तरह से कहूँ
तुम नहीं चारागर, कोई माने मगर

मैं नहीं मानता, मैं नहीं मानता

-हबीब जालिब